द्वैमासिक
जुलाई – अगस्त 2021
● 30 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

# आह्वान

● यूएपीए: जनप्रतिरोध के दमन का औज़ार

● उत्तर प्रदेश जनसंख्या विधेयक - 2021 ● पूँजी की हवस और लुटते कटते जंगल

● प्रेमचन्द, उनका समय और हमारा समय ● म्यूरल आन्दोलन

● फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा कश्मीर में अनुच्छेद 370 व 35ए निरस्त किये जाने के दो साल

● छात्रों-युवाओं की बढ़ती आत्महत्याओं का ज़िम्मेदार कौन है?

# आरएसएस को पूँजीपतियों की पैदल सेना क्यों कहा जाता है ?

उत्तर - आरएसएस पूँजीवादी व्यवस्था की समर्थक है। यह युग पूँजीवाद के पतन का है। पूँजीवाद की रक्षा के लिये ही अमेरिकी शासन इतने खतरनाक हथियार बना रहा है। पूँजीवाद आखिरी लड़ाई फ़ासिस्ट ताकतों की मदद से लड़ता है। जर्मनी में नाजी पार्टी ऐसी ही फ़ासिस्ट पार्टी थी, जिसने दूसरा महायुद्ध कराया। जर्मन फ़ासिस्टवाद भी अपनी जाति और नस्ल की श्रेष्ठता की भावना पर पनपा था। आरएसएस भी हिन्दू जाति, धर्म, नस्ल और रक्त की श्रेष्ठता और पवित्रता के आधार पर गठित हुआ है। पूँजीवाद को नाश का खतरा साम्यवाद से है । इसलिये आरएसएस घोर साम्यवाद विरोधी है। इस संगठन में निम्न मध्यम वर्ग, अध्यापक ,क्लर्क दुकानदार के लड़के आते हैं। यह कितनी हास्यास्पद बात है कि पूँजीपतियों द्वारा शोषित ये लोग अपने शोषकों की रक्षा के लिये जान लेने और देने को उतारू हैं। इनके दिमाग मे उन्माद भर दिया जाता है।

हरिशंकर परसाई (22 अगस्त 1924 - 10 अगस्त 1995)

## आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ **'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमन्त्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।**

➢ **'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।**

# इस अंक में


| | |
|---|---|
| **पाठक मंच** | **2** |
| **अपनी ओर से** | |
| यूएपीए : जनप्रतिरोध को कुचलने का औज़ार | 3 |
| **सामयिकी** | |
| ओलम्पिक में भारत की स्थिति | 7 |
| उत्तर प्रदेश जनसंख्या विधेयक | 11 |
| प्रोजेक्ट पेगासस : शासक वर्ग का हाइटेक निगरानी तन्त्र और उसके अन्तरविरोधों का ख़ुलासा | 13 |
| छात्रों-युवाओं में बढ़ती आत्महत्या की प्रवृत्ति का ज़िम्मेदार कौन है? | 16 |
| पूँजी की हवस और लुटते-कटते जंगल | 31 |
| **शिक्षा जगत** | |
| आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन की तानाशाही | 18 |
| एलओसीएफ़ - 2021 : उच्च शिक्षा के भगवाकरण और इतिहास के मिथ्याकरण का नया हथियार | 19 |
| **विश्व पटल पर** | |
| संकट से गुज़रता क्यूबा: यह उथल-पुथल अप्रत्याशित नहीं | 44 |
| **विशेष सामग्री** | |
| म्यूरल आन्दोलन: मैक्सिकन क्रान्ति की आँच में निर्मित हुआ कला आन्दोलन | 21 |
| असम-मिज़ोरम विवाद के मूल कारण क्या हैं | 34 |
| फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 व 35ए निरस्त किये जाने के दो साल | 40 |
| भारत छोड़ो आन्दोलन की 79वीं बरसी : एक विश्लेषण | 55 |
| **कला-साहित्य** | |
| वीरेन डंगवाल के जन्मदिवस और स्मृतिदिवस के अवसर पर | 23 |
| प्रेमचन्द, उनका समय और हमारा समय | 50 |
| महाजनी सभ्यता | 52 |
| **फ़िल्म समीक्षा** | |
| कर्णन | 48 |
| **गतिविधियाँ** | **59** |



**मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान**

**वर्षः 14 अंकः 4**

**जुलाई-अगस्त, 2021**

सम्पादक

**प्रसेन**

सज्जा

**रामबाबू**

एक प्रति का मूल्य: **30 रुपये**
वार्षिक सदस्यता: **200 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **400 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **900 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2, 500 रुपये**

**सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 08858288593**

**ईमेलः ahwan.editor@gmail .com वेबसाइटः ahwanmag.com फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan**

स्वामी, प्रकाशक, एवं मुद्रक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

## पाठक मंच

मैं आह्वान पत्रिका को पिछले एक साल से नियमित पढ़ रहा हूँ। आज के पूँजीवादी दौर में मीडिया की बात की जाये तो वह बस सरकार की तारीफ़ों के पुल बाँधने का काम करती है जबकि वास्तविकता कुछ और होती है। ऐसे समय में आह्वान जैसी पत्रिका जागरूक करती हैं। सरकार की नीतियों का छात्रों-नौजवानों और आम आबादी पर पड़ने वाले असर को बहुत ही तथ्यात्मक और तर्कपूर्ण तरीके से पेश करती है। मेरे और मेरे जैसे सैकड़ों छात्रों-युवाओं लिए हर ज़रूरी मसले, जैसे नयी शिक्षा नीति हो या नये लेबर कोड या फिर जीवन की उत्पत्ति आदि पर अपना नज़रिया स्पष्ट करने में आह्वान पत्रिका बहुत मददगार है। 'अभिनव' के लेख से किसान आन्दोलन के वर्ग चरित्र के बारे में कई महत्वपूर्ण जानकारी मिली तथ्य मिले जो आम पत्र-पत्रिकाओं में नहीं मिलते।

युवाओं में बेरोज़गारी कि समस्या बहुत आम है। सरकार और मीडिया इस पर अपनी चुप्पी साध लेते हैं या बढ़ती जनसंख्या को इसका कारण बताते हैं और अपनी ज़िम्मेदारी से पीछा छुड़ाते हैं। आह्वान के माध्यम से ही मुझको पता चला बेरोज़गारी की वजह मुनाफ़े पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था है, जिसका मानवता से कोई लेना देना नहीं हैं। इसके अलावा युवाओं को जागरूक करने के लिए इसमें क्रान्तिकारी शहीदों के विचारों को भी बताया जाता है जिनको आज के समय में भुला दिया गया है। इन सब चीज़ों के बाबजूद आह्वान पत्रिका से मेरी एक शिकायत यह है कि यह पत्रिका नियमित नहीं है। मेरी आप लोगों से गुज़ारिश है कि इस महत्वपूर्ण पत्रिका को नियमित करें ताकि हम जैसे युवाओं को देश दुनिया की परिस्थितियों को समझने में मदद मिले। मैं आह्वान के लेखन टीम को उनके प्रयासों के लिए धन्यवाद देता हूँ क्योंकि ये आज के समय की ज़रूरत है।

**- विकास शर्मा (एमएनएनआईटी, इलाहाबाद)**

## आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

**उत्तर प्रदेश** : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू, वाराणसी • प्रसेन, इलाहाबाद, फ़ोन: 8115491369 • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, सिंघलपट्टी, अम्बेडकरनगर • करण, एस14, श्री जी रेज़ीडेंसी, मथुरा - 281001 • सुरेश, चित्रकूट, फ़ोन:9794625522 • रमेश, गाज़ीपुर, फ़ोन: 9793567003

**दिल्ली** : • योगेश, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस, लता, जे. एन.यू., फ़ोन: 8800105101

**बिहार** : • विक्रान्त कुमार, द्वारा, हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, ज़िला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, ज़िला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग़, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, वाया इस्लामपुर, नालन्दा

**राजस्थान** : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर

**हरियाणा** : • रमेश खटकड़, हरि नगर, गली नंबर 3, नरवाना, ज़िला-जीन्द • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक • अजय, जींद, फ़ोन: 8685030984 • अरविन्द, रोहतक, फ़ोन: 8010156365 • शाम मूर्ति, गुड़गाँव, फ़ोन: 8397861640

**पंजाब** : • अवतार सिंह, मकान नं. 19041, गली नं. 14, बीबी वाला रोड, बठिण्डा, 151001, फ़ोन: 9501070001 • इनजिन्दर सिंह, शिवम कालोनी, गली नं. 5, संगरूर, फ़ोन: 9888080820 • दीपक शर्मा, मकान नं. 30, गुरुद्वारा खुही-सर, गली नं. 3, सतजोत नगर, ढांढरा रोड, लुधियाना-141116 • प्रभदीप, लुधियाना, फ़ोन: 9888808876 • शुभम रौतेला, 119/7, सेक्टर - 32ए, चंडीगढ़, फ़ोन: 8196803093

**हिमाचल प्रदेश** : • वृषाली द्वारा चेतन गुप्ता, जनरल मर्चेंट एंड ट्रांसपोर्ट एजेंट, टुटू, शिमला-171011, फ़ोन: 9582712837 • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, ज़िला-मण्डी • जय प्रकाश, दिग्विजय अपार्टमेंट्स, विजय नगर, टूटू (शिव मन्दिर के पास), शिमला

**महाराष्ट्र** : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू, कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्ठी, अजनी रोड, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, पंचशील विद्यामन्दिर, शाळेसमोर, बौद्धवस्ती, सिद्धार्थनगर, अहमदनगर, महाराष्ट्र • अभिजीत, 6, गुलमोहर, समर्थ सोसाइटी, वारजे, पुणे -58

**मध्यप्रदेश** : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

**उत्तराखण्ड :** • अपूर्व, (देहरादून), फ़ोन: 7042740669 • वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल, द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल, देहरादून

**जम्मू :** • श्री पुरुषोत्तम, लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

**छत्तीसगढ़ :** • शेख अंसार, रायपुर व राजनांदगाँव, फ़ोन: 9993233537 • जैनेन्द्र ठाकुर, रायपुर, फ़ोन: 9009755117 • श्री देवांशु पाल, सं. 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, बिलासपुर

**केरल :** • राजीव साची, फ्लैट नं. डी4, गैलेक्सी लक्ज़र, सेंट सेबस्टियन रोड, पोन्नूरन्नी, वायटिला, कोच्चि-19

**मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' के नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वेबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सऐप पर भी पा सकते हैं। इसके लिए आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सऐप से इस पर मैसेज भेजना होगा। विभिन्न विषयों पर 'आह्वान' की ओर से प्रस्तुत सामग्री के लिए हमारा फ़ेसबुक पेज भी फ़ॉलो करें: @ muktikamiahwan**

# यूएपीए : जनप्रतिरोध को कुचलने का औज़ार

फ़ासीवादी भाजपा सरकार ने पूरे देश को सामाजिक कार्यकर्ताओं, मानवाधिकारकर्मियों, बुद्धिजीवियों, धार्मिक अल्पसंख्यकों, दलितों-आदिवासियों और मेहनतकश आबादी के लिए जेलख़ाने में तब्दील कर दिया है। इस फ़ासिस्ट सरकार के समय में कश्मीर, पूर्वोत्तर राज्यों का राष्ट्रीय दमन पहले से गुणात्मक मुकाम पर पहुँच गया है। मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियों, महँगाई, बेरोज़गारी, भुखमरी, तबाह स्वास्थ्य और शिक्षा व्यवस्था, कोरोना महामारी में सरकार की आपराधिक लापरवाही आदि के ख़िलाफ़ जनता के असन्तोष को गुमराह करने के लिए जहाँ एक तरफ पूरे देश में साम्प्रदायिक ज़हर (अब इसकी ज़द में उत्तर भारत के अलावा तेलंगाना, असम, पश्चिम बंगाल आदि भी आ गये हैं) फैलाया जा रहा है, वहीं दूसरी तरफ़, मोदी सरकार की नीतियों के ख़िलाफ़ मुखर सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं को चुन-चुन कर फ़र्जी मामलों में बिना यथोचित सबूत के यूएपीए जैसे क़ानूनों के तहत जेलों में ठूँसा जा रहा है। कांग्रेस सरकार द्वारा लादे गये आपातकाल से सबक लेते हुए फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा यूएपीए जैसे काले क़ानूनों के जरिये **टार्गेटेड** गिरफ़्तारियाँ और दमन जारी है। पिछले लम्बे समय से आनन्द तेलतुम्बड़े, गौतम नौलखा, साईं बाबा, रोमा सेन, सुधा भारद्वाज, उमर ख़ालिद, शरजील इमाम, हैनी बाबू जैसे तमाम बुद्धिजीवी, मानवाधिकारकर्मी सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता जेलों में बन्द हैं। कुछ समय पहले काफ़ी मशक्कत के बाद वारवरा राव ज़मानत पर रिहा हो पाये। नताशा नरवाल को उनके बीमार पिता से मिलने तक की छूट नहीं दी गयी थी और फिर ज़मानत मिलने के बाद भी नताशा को जेल में रखने के लिए दिल्ली पुलिस द्वारा काफ़ी दाँव-पेंच किया गया। हाल ही में 84 वर्षीय फ़ादर स्टेन की जेल में मौत के बारे में यह जगज़ाहिर है कि ये मौत नहीं बल्कि इस फ़ासीवादी सरकार द्वारा की जाने वाली न्यायिक हत्या थी। फ़ादर स्टेन लम्बे समय से उन आदिवासियों की लड़ाई लड़ रहे थे, जिन्हें माओवादी होने का आरोप लगाकर जेलों में ठूँस दिया गया था। एक साल पहले फ़ादर स्टेन को भीमा कोरेगाँव मामले में फ़र्जी आरोप लगाकर जेल में डाल दिया गया था। हाल ही में मणिपुर के दो जनपक्षधर पत्रकारों, किशोरचन्द्र वांगखेम और इरेन्द्र लेईचोम्बम को फ़ेसबुक पर गोबर और गौमूत्र को कोरोना का इलाज़ बताये जाने पर कुछ व्यंग्य करने पर राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून के अन्तर्गत गिरफ़्तार कर लिया गया। हाथरस बलात्कार की रिपोर्टिंग करने वाले केरल के पत्रकार सिद्दीक़ कप्पन को यूएपीए के तहत जेल में डाल दिया गया। पूर्व पुलिस अधिकारी संजीव भट्ट बरसों से जेल में बन्द हैं। कोरोना की दूसरी लहर के दौरान अपनी आपराधिक लापरवाही को छुपाने के लिए यूपी सरकार के पहले शिकार अमेठी के शशांक यादव, बने जिन्होंने बस ट्विटर पर अपने दादाजी के लिए ऑक्सीजन सिलेण्डर की ज़रूरत के बारे में लिखा था। दिल्ली पुलिस ने सुल्तानपुरी और मंगोलपुरी इलाक़े में रहने वाले 25 युवा मेहनतकशों को दीवारों पर "मोदी जी हमारे बच्चों की वैक्सीन विदेश क्यों भेज दी?" का केवल पोस्टर लगाने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया था।

मोदी सरकार के मौजूदा फ़ासीवादी निज़ाम में न्याय व्यवस्था, पुलिस प्रशासन पूरी तरह सत्ता के हाथ की कठपुतली की तरह काम कर रही है। भीमा कोरेगाँव के मामले में पिछले साल अक्टूबर में एनआईए ने दस हज़ार पन्नों का अभियोग-पत्र दाख़िल किया है, लेकिन मुक़दमे की सुनवाई अभी तक शुरू भी नहीं हुई है! जेल में बन्द लोगों की ज़मानत की याचिकाएँ बार-बार ख़ारिज की जा चुकी हैं! सत्ता की साज़िश की स्थिति तो यह है कि 'वाशिंगटन पोस्ट' की भारत संवाददाता निहा मसीह

की एक रिपोर्ट के हवाले से पता चला है कि अमेरिका के मैसाचुसेट्स की डिजिटल फोरेंसिक फर्म 'आर्सेनल कंसल्टिंग' ने भीमा कोरेगाँव मामले में, माओवादी षड्यन्त्र और प्रधानमन्त्री की हत्या की साज़िश में जेल में बन्द आरोपियों में से दो- रोना विल्सन और सुरेन्द्र गाडगिल के डिजिटल रिकार्ड्स और ई-मेल की जाँच के बाद पाया है कि किसी हैकर के ज़रिये इन दोनों के कम्प्यूटर में आपत्तिजनक सामग्री डलवायी गयी थी। गिरफ़्तारी से ठीक पहले फ़ादर स्टेन, गौतम नौलखा और आनन्द तेलतुम्बडे ने भी यही कहा था। इस रिपोर्ट पर एनआईए प्रवक्ता अदालती कार्रवाई का हवाला देकर चुप्पी साधे हुए हैं। आर्सेनल की तीन रिपोर्टें आ चुकी हैं, लेकिन गोदी मीडिया के सनसनीख़ेज "देशद्रोह-देशद्रोह" के क़ातिलाना शोर में इन बातों पर किसी का ध्यान नहीं गया! इनमें से अधिकांश लोग साठ या सत्तर के पार उम्र वाले हैं और किसी न किसी 'टर्मिनल डिजीज़' के मरीज़ हैं! ज़ाहिर है, सरकार इन्हें लम्बे मुक़दमे के दौरान जेल में ही मार डालना चाहती है या उन्हें शारीरिक रूप से इतना जर्जर कर देना चाहती है कि वे फिर किसी तरह की सक्रियता लायक रह ही न जायें! शरीर से अस्सी प्रतिशत विकलांग जी.एन. साई बाबा की भी स्थिति अच्छी नहीं है। पूरे देश में यूएपीए जैसे काले क़ानूनों के अन्तर्गत जेल में हज़ारों लोग बन्द पड़े हैं और दस-बीस साल जेल में बिताने के बाद बेक़सूर साबित होने के बाद 'ज़िन्दा लाश' बनकर बाहर आने वालों के मामले भी दर्ज़नों की संख्या में हैं! अभी हाल ही में पिछले डेढ़ साल से यूएपीए के तहत जेल में बन्द उमर ख़ालिद के मुक़दमे की सुनवाई में सरकार और पुलिस प्रशासन की घिनौनी मिलीभगत का फिर से एक बार पर्दाफ़ाश हुआ। जिस वीडियो क्लिप के आधार पर उमर ख़ालिद पर यूएपीए लगाया गया था, कोर्ट में सुनवाई के दौरान जब उसका पूरा फ़ुटेज माँगा गया तो दिल्ली पुलिस ने बताया कि उसने रिपब्लिक टीवी से वो क्लिप ली थी और जब रिपब्लिक टीवी से पूरा फ़ुटेज माँगा गया तो उसने बताया कि उनके पास कोई रॉ फ़ुटेज नहीं है क्योंकि उनका कोई रिपोर्टर वहाँ मौजूद नहीं था। रिपब्लिक टीवी ने बताया कि वो क्लिप उसे भाजपा आईटी सेल के अमित मालवीय के ट्वीट से मिला था। अमित मालवीय ने जो क्लिप ट्वीट किया था वो डॉक्टर्ड था। मज़ेदार बात ये है कि दिल्ली दंगों से लेकर सरेआम गोली चलाने वाले, भीमा कोरेगाँव के अपराधी, जन्तर-मन्तर पर ख़ुलेआम मुस्लिमों के ख़िलाफ़ हिंसा का नारा लगाने वाले संघियों-भाजपाइयों को छुट्टा छोड़ दिया गया या तुरन्त ज़मानत मिल गयी।

एनसीआरबी के रिकॉर्ड्स के मुताबिक़ पिछले 5 सालों में 7840 लोगों को गिरफ्तार किया गया जिसमें मात्र 155 लोगों पर ही आरोप साबित किया जा सका। अपवादों को छोड़कर, न्यायपालिका सीधे-सीधे सरकार के इशारों पर काम कर रही है और एनआईए, सीबीआई, आईबी, ईडी आदि एजेंसियों की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की बात करना तो एक मज़ाक से अधिक कुछ भी नहीं है!

यही वजह है कि हमें इन क़ानूनों/दमन के ख़िलाफ़ प्रतिरोध को जनान्दोलन का रूप देना होगा। इन क़ानूनों के ख़िलाफ़ लड़ाई की कमज़ोरी ये रही है कि हम प्रतीकात्मक विरोध प्रदर्शनों, सेमिनार, गोष्ठियों, जनहित याचिकाओं, फ़ैक्ट फ़ाइण्डिंग तक ही सीमित रहे। निश्चित तौर पर ये सब भी होना ही चाहिए। लेकिन जब तक ये आम जनता का मुद्दा नहीं बन पाता, जब तक आम जनता सड़कों पर बड़ी तादाद में नहीं उतरती तब तक फ़ासिस्ट सत्ताधारियों पर कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। मीडिया, संघ परिवार का भोंपू जनता में अपनी पैठ का फ़ायदा उठा कर जनता के हितों के लिए लड़ने वालों को देश विरोधी, फूट डालने वाला, आतंकवादी आदि के रूप में प्रचारित करती है और उनके लिए बोलने वालों को भी उसी श्रेणी में खड़ा कर देती है।

कुछ समय पहले इस मसले पर राजनीतिक कार्यकत्री और कवियत्री कात्यायनी ने इस सन्दर्भ में बहुत ही ज़रूरी बात समाचारपत्र (देखें मज़दूर बिगुल, जुलाई 2021) और सोशल मीडिया के प्लेटफॉर्म पर रखी थीं। उन्होंने 1970 के दशक में भारत में आपातकाल की काली पृष्ठभूमि पर शुरू हुए जनवादी अधिकार आन्दोलन के सन्दर्भ में लिखा कि - "यह आन्दोलन अगले दशक के अन्त तक ही सिमटने-बिखरने और संकुचित होने लगा था। इसके कारणों की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा कि- "सत्तर के दशक के अन्त में पीयूसीएल में हुई फूट और पीयूडीआर के गठन के पीछे जो राजनीतिक-वैचारिक आग्रह काम कर रहे थे; नज़रिये की जो भिन्नता काम कर रही थी, वह अगले दशक तक राजनीतिक संकीर्णता की शक्ल अख़्तियार कर चुकी थी। 1980 के दशक में पूरे देश में दर्जनों जनवादी अधिकार संगठन काम कर रहे थे, लेकिन वे किसी साझा न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर एक साथ आने या किसी फ़ेडरेशन या कॉन्फ़ेडरेशन जैसा ढाँचा बना पाने में असफल रहे। सच पूछें तो इस पर किसी का विशेष ज़ोर भी नहीं रहा। कई संगठन सिर्फ़ दमन-उत्पीड़न-विस्थापन की घटनाओं पर जाँच

टीम बनाकर रिपोर्ट जारी करने, जनहित याचिकाएँ और बन्दी-प्रत्यक्षीकरण याचिकाएँ दाख़िल करने, ज्ञापन देने, प्रेस-विज्ञप्ति देने जैसी कार्रवाइयों तक सिमट कर रह गये। कुछ दूसरे थे जो केवल राजनीतिक बन्दियों की रिहाई, उनके उत्पीड़न और फ़र्ज़ी मुक़दमे हटाने जैसे सीमित मुद्दों पर ही काम करते रहे। इनमें से ज़्यादातर वे थे जो कमोबेश किसी मा-ले संगठन के फ्रण्टल संगठन की तरह काम कर रहे थे। इससे कुल-मिलाकर, नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार आन्दोलन के मूल लक्ष्य को क्षति ही पहुँची।"

वर्तमान हालात में आज ज़रूरत इस बात की है कि एक साझा लक्ष्य और साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर नागरिक और जनवादी अधिकार आन्दोलन को फ़िर से खड़ा किया जाये और एक व्यापक जन-समर्थन वाले ज़मीनी आन्दोलन के रूप में खड़ा किया जाये। तमाम विचारधारात्मक और राजनीतिक मुद्दों पर मतभेद, बहस और अलग-अलग राजनीतिक सामाजिक प्रयोग चलते रहेंगे। लेकिन जनवादी अधिकारों के मामले में एक साझा लड़ाई लड़ी जा सकती है और ज़रूर लड़ी जानी चाहिए। इस मामले में कोई भी राजनीतिक-सांगठनिक संकीर्णता आत्मघाती होगी।

फ़ासिस्टों के हाथ में सत्ता होने के अलावा नागरिक और जनवादी अधिकारों के सन्दर्भ में भारतीय समाज के ताने-बाने में गम्भीर समस्या है। भारत जैसे देश में, (i) जहाँ संविधान आपको जो नागरिक और जनवादी अधिकार देता है, उनको छीन लेने के सभी उपाय और प्रावधान संविधान के भीतर ही मौजूद हों, (ii) जहाँ मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोगों को छोड़कर 'जुडिशियल रेमेडी' तक आम लोगों की पहुँच ही न हो और केवल 'लीगल रेमेडी' ही वे हासिल कर सकते हों, (iii) जहाँ तमाम छिटफुट सुधारों, पुलिस आयोगों की रपटों आदि के बावजूद क़ानून-व्यवस्था, आईपीसी-सीआरपीसी आदि, पुलिस तन्त्र और जेलों की व्यवस्था और नियमन औपनिवेशिक काल से, यूँ कहें कि उन्नीसवीं शताब्दी से ही, कमोबेश वैसी ही चली आ रही हो, (iv) जिस देश में अकेले आज़ादी के बाद, केन्द्र और राज्यों के स्तर पर बने काले क़ानूनों की संख्या दर्ज़न भर से भी अधिक हो, (v) जहाँ आम लोगों की ख़ुद अपने नागरिक और जनवादी अधिकारों के प्रति सजगता और जानकारी न के बराबर हो, (vi) जिस देश के उत्तर-औपनिवेशिक समाज के ताने-बाने में ही जनवादी मूल्यों और संस्कृति का अभाव हो जिसका क्रूरतम और वीभत्सतम रूप जाति-व्यवस्था, दलित-उत्पीड़न, जेण्डर-आधारित उत्पीड़न के रूप में रोज़ हमारे सामने आता हो, (vii) जिस देश में जम्मू-कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के दमन का सात दशकों से भी लम्बा इतिहास हो और बहुसंख्यक आबादी को इस सच्चाई का पता ही न हो और इन इलाक़ों में सत्ता की सैन्य कार्रवाइयों को वह "अलगाववादी ताक़तों के ख़िलाफ़ सरकार की देशभक्तिपूर्ण कार्रवाई" के रूप में देखती रही हो, (viii) जो देश आज़ादी के बाद से ही बड़ी परियोजनाओं, खदानों, बाँधों आदि के निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर बलात् विस्थापन और पुनर्वास के झूठे वायदों का गवाह रहा हो, (ix) जिस देश ने तेलंगाना किसान संघर्ष के सैनिक दमन के बाद, 1960 और 1970 के दशक के बड़े पैमाने के पुलिसिया दमन, एनकाउण्टर्स, गिरफ़्तारियाँ और फिर आपातकाल के काले उन्नीस महीने देखे हों; उस देश के जनवादी चेतना सम्पन्न नागरिकों को पहले ही एक व्यापक जनाधार वाले जनवादी अधिकार आन्दोलन को संगठित करने के प्रोजेक्ट पर काम शुरू कर देना चाहिए था।

निश्चित तौर पर यह काम संसदीय वामपन्थी और एनजीओपन्थी नहीं कर सकते। किसी के भी जनवादी अधिकारों के दमन का पुरज़ोर विरोध करते हुए हमें कांग्रेस, सपा, बसपा और संसदीय वामपन्थी पार्टियों के चरित्र को नहीं भूलना होगा। कांग्रेस के समय में चिदम्बरम के 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' को और यूपीए काल के काले क़ानूनों को भला कोई कैसे भूल सकता है? इस बात को कैसे भूला जा सकता है कि जिस एनआईए और यूएपीए का मोदी-शाह बर्बर इस्तेमाल कर रहे हैं, वे यूपीए काल की ही देन हैं जब कांग्रेस के साथ कई क्षेत्रीय दल और संसदीय वाम दल भी सत्ता में भागीदार थे! नागरिकों के निजी जीवन पर साइबर निगरानी का तन्त्र खड़ा करने के प्रोजेक्ट पर भी यूपीए शासनकाल में ही काम शुरू हो चुका था, जब आधार कार्ड की योजना बनी थी।

दूसरे, हमें यह बात समझनी होगी कि इन ख़तरनाक काले क़ानूनों, दमन और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करने के पीछे फ़ासिस्ट मोदी सरकार का असली मक़सद मुट्ठी भर बड़े पूँजीपतियों की सेवा करना है। देश के खनिज संसाधन, जल-जंगल-ज़मीन सब कुछ पूँजीपतियों की भेंट चढ़ाना है। शिक्षा-स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों को भी पूँजी की अन्धी लूट का अखाड़ा बनाना है। सारे सरकारी विभागों को निजी हाथों में बेचना है। इनसे पैदा होने वाले गुस्से को भटकाने के लिए मोदी सरकार हिन्दू और

मुस्लिम समुदाय में नफ़रत और फूट का माहौल, आतंकवाद का हौवा खड़ा करती रहती है ताकि लोग एकजुट न हो सकें। पूँजीपतियों की मीडिया व संघ की तमाम शाखाएँ इस काम में मुस्तैदी से लगी हैं। संघ परिवार के लम्बे समय से संगठित और संस्थाबद्ध साम्प्रदायिक कारोबार की वजह से भले ही एक बड़ी आबादी संघ के 'हिन्दू राष्ट्र' से नज़दीकी महसूस करती है, लेकिन सच ये है कि हिन्दू आबादी का बहुसंख्यक मेहनतकश तबका संघ और भाजपा के असली आका अम्बानी-अडानी जैसे पूँजीपतियों की चक्की में पीसा जा रहा है। केवल मुस्लिम नहीं बल्कि मोदी सरकार की नीतियों का विरोध करने वाले किसी भी जाति या धर्म के हों, सब पर दमन का पाटा चलाया जा रहा है। हमें संघ परिवार के 'हिन्दू, हिन्दू के लिए' नारे के अलावा मुस्लिम वोटों की सियासत करने वालों के 'मुस्लिम, मुस्लिम के लिए' के नारे से सावधान रहना होगा। क्योंकि भाजपा व मुस्लिम वोटों की सियासत करने वालों की रोटी हिन्दू-मुस्लिम ध्रुवीकरण पर ही सिंक सकती है। आज हमें फ़ासिस्टों के इस दमनचक्र का मुकाबला करने लिए सभी धर्मों-जातियों-क्षेत्रों के उत्पीड़ितों-इंसाफ़पसन्द लोगों, मेहनतकश आबादी की एक क्रान्तिकारी एकजुटता का निर्माण करना होगा। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है।

निष्कर्ष के तौर पर कहें तो, अदालती-क़ानूनी स्तर पर लड़ने, शहरों के जागरूक नागरिकों में समर्थन-आधार बनाकर सत्ता पर दबाव बनाने और मीडिया के मोर्चे पर अपनी मुस्तैदी के साथ ही जनता में व्यापक आधार वाले आन्दोलन को तृणमूल स्तर से संगठित करना और आम शहरी-देहाती आबादी के बीच भी जनवादी अधिकार आन्दोलन को पैठाना होगा। आज बेहद ज़रूरी है कि आम लोगों को उनके जनवादी अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने के लिए शिक्षा और प्रबोधन की व्यापक मुहिम चलायी जाये! जन अधिकार कमेटियों का गठन किया जाय। दूसरे, यह भी ज़रूरी होगा कि जो सामाजिक संस्थाएँ-मूल्य-मान्यताएँ जाति और जेण्डर आधारित उत्पीड़न का कारक बनती हैं और दमनकारी राज्यसत्ता के लिए सामाजिक समर्थन-आधार का काम करती हैं; दलित-उत्पीड़न तथा स्त्री-उत्पीड़न की घटनाओं के विरुद्ध व्यापक जन अभियान और जन-लामबन्दी की कोशिश की जाये! केवल तभी एक ऐसा व्यापक जनाधार वाला जनवादी और नागरिक अधिकार आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है, जो उजाड़, विस्थापन, सैन्य-अर्द्ध-सैन्य बलों द्वारा दमन, अवैध गिरफ्तारियों, राजनीतिक बन्दियों के उत्पीड़न, साम्प्रदायिक शक्तियों के खूनी उत्पात, मॉब-लिंचिंग और काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ मीडिया में बयान जारी करने, उच्च न्यायालय और मानवाधिकार आयोग के दरवाज़े खटखटाने, देश और दुनिया के गणमान्य बुद्धिजीवियों के बीच हस्ताक्षर अभियान चलाने और अन्तरराष्ट्रीय मंचों तक बात पहुँचाने तक ही सीमित नहीं रहेगा, बल्कि हज़ारों-हज़ार की संख्या में लोगों को सड़कों पर उतारने, जन-सत्याग्रह चलाने आदि में भी सक्षम होगा! तब हमारे विरोध के जो तरीके आज प्रतीकात्मक प्रतीत होते हैं, उनकी शक्ति भी सौगुनी अधिक हो जायेगी!

आज हमारे कुछ फौरी कार्यभार भी बनते हैं! सबसे पहले सोशल मीडिया और तमाम वैकल्पिक माध्यमों के द्वारा, और विभिन्न शहरों में मीटिंगें आयोजित करके यह माँग उठायी जानी चाहिए कि (1) भीमा कोरेगाँव से लेकर दिल्ली दंगों के फर्जी मुक़दमे को तत्काल रद्द करके सभी राजनीतिक बन्दियों व आरोपियों को अविलम्ब रिहा किया जाये, (2) सिद्दीक कप्पन और संजीव भट्ट और ऐसे तमाम लोगों पर लादे गये मुक़दमे हटाकर उन्हें अविलम्ब रिहा किया जाये, (3) यू.ए.पी.ए. जैसे सभी काले क़ानूनों को निरस्त किया जाये और एन.आई.ए. को तत्काल प्रभाव से भंग किया जाये, (4) आर्सेनल की रिपोर्ट पर सरकार अन्तरराष्ट्रीय जाँच के लिए सहमति दे !

एक बेहद ज़रूरी काम यह भी है कि देश के कुछ गणमान्य न्यायविदों और जनवादी अधिकारकर्मियों को लेकर एक 'पीपुल्स ट्रिब्यूनल' या जन-अदालत का गठन किया जाये जो भीमा कोरेगाँव मामले, आर्सेनल की रिपोर्ट, फ़ादर स्टेन की मृत्यु और एनआईए की गतिविधियों पर विस्तृत सुनवाई के बाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे! इस तरह के पीपल्स ट्रिब्यूनल बनाने की परम्परा अगर एक बार स्थापित हो जाये तो छत्तीसगढ़ में आदिवासियों और कश्मीर और उत्तर-पूर्व में दमन और नर-संहारों को अंजाम दिया जा रहा है, उन पर और फ़ासिस्ट गुण्डा वाहिनियों द्वारा की जाने वाली हत्याओं, गुजरात, मुज़फ़्फ़रनगर और दिल्ली जैसे दंगों की साज़िशों और मॉब लिंचिंग की घटनाओं पर भी ऐसे ट्रिब्यूनल बैठाये जा सकते हैं!

**अब न समय है, जूझना ही हल है!**

सामयिकी

# ओलम्पिक में भारत की स्थिति: खेल और पूँजीवाद के अन्तरसम्बन्धों का वृहत्तर परिप्रेक्ष्य

**अपूर्व मालवीय**

**मिल्खा सिंह का जूता:**

ओलम्पिक पर बात शुरू करने से पहले बात करते हैं मिल्खा सिंह के जूतों की। शायद आपने 'भाग मिल्खा भाग' फिल्म देखी होगी। मिल्खा सिंह शुरुआती दौर में नंगे पैर ही दौड़ा करते थे। पहली बार मिल्खा सिंह के कोच ने उन्हें स्पाइक्ड जूते दिये और इसे पहनकर दौड़ने के लिए कहा। कोच ने उनसे पूछा कि इन जूतों में तुम कैसा महसूस कर रहे हो? तो मिल्खा सिंह का जवाब था कि 'इन जूतों में निकली कीलों से जूझ रहा हूँ'।

इस पूरी घटना के कई पहलू हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि राष्ट्रीय स्तर के खेल में भाग लेने से पहले मिल्खा सिंह को एक जूता तक उपलब्ध नही हो सका। इसमें उनकी जीवन की व्यक्तिगत त्रासदी के अलावा जो दूसरा पहलू है वो राज्य का खेल और खिलाड़ियों के प्रति उपेक्षित दृष्टिकोण को बताता है। तीसरा पहलू यह है कि जूता तकनीक का भी प्रतीक है जो बताता है कि हम किस प्रकार खेलों में उन्नत तकनीक के प्रयोग के आदी नहीं हुए हैं और ज़ाहिर सी बात है कि ये तभी हो सकता है जब हमें इस्तेमाल के लिए तकनीक ही उपलब्ध न हो।

अब चलते हैं इस घटना के लगभग 70 सालों बाद ओलम्पिक 2021 में। जैवलिन थ्रो में गोल्ड मेडल जीतने वाले नीरज चोपड़ा ने 16 जुलाई को एक ट्वीट में लिखा था कि, "टोक्यो ओलम्पिक की तैयारी में मेरी सारी ज़रूरतें पूरी कर दी गयी हैं। मैं अभी यूरोप में ट्रेनिंग कर रहा हूँ...." यानी नीरज चोपड़ा को उनका जूता यूरोप में मिला। आज़ादी के इतने सालों बाद भी सरकार खेलों के प्रशिक्षण के लिए बेसिक आधारभूत ढाँचा भी खड़ा नहीं कर पायी है।

**अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना तो कोई गोदी मीडिया और मोदी जी से सीखे:**

मीडिया और सरकार इस पर गदगद है कि भारत ने ओलम्पिक में क्या शानदार प्रदर्शन किया है। अब तक के ओलम्पिक में सबसे ज़्यादा पदक हासिल करने की उपलब्धि को मीडिया और मोदी सरकार ऐसे पेश कर रही है जैसे ये उसी का कारनामा हो! वरना कहाँ ऐसा चमत्कार होता! ख़ुद अपनी पीठ ठोकने और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने में गोदी मीडिया और मोदी जी का कोई सानी नहीं है। मीडिया के हिसाब से ओलम्पिक 2021 में भागीदारी करते हुए हमने एक गोल्ड, दो सिल्वर और चार कांस्य मिलाकर कुल सात पदक ही जीते और महान हो गये! इतिहास रच दिया! बहुत बड़ा कारनामा कर लिया! बात-बात में चीन से तुलना करने वाली गोदी मीडिया को इस बार बांग्लादेश, पाकिस्तान और श्रीलंका मिल गया! ये मीडिया वाले इसी से फूलकर कुप्पा थे कि ये पड़ोसी देश कोई भी पदक हासिल नहीं कर पाये और हम सात पदक! उनके लिये सबसे बड़ी खुशी तो यह भी थी कि पाकिस्तान तो तीन दशकों से ओलम्पिक में कोई भी पदक हासिल नहीं कर पाया है। लेकिन ये मीडिया वाले यह नहीं बताते कि हमने पाकिस्तान, श्रीलंका और बंग्लादेश की तुलना में कितने ऐथलीटों को ओलम्पिक में भेजा है! पाकिस्तान ने जहाँ दस, बंग्लादेश ने छ: और श्रीलंका ने नौ ऐथलीटों को भेजा था, वहीं हमने 127 ऐथलीटों की पूरी बटालियन ही भेजी थी, जो इन तीनों देशों के ऐथलीटों को मिलाकर भी इनसे पाँच गुना ज़्यादा थी, जिनमें सिर्फ़ सात को ही पदक मिले। बात-बात पर चीन से तुलना करने वाली गोदी मीडिया को इस बार चीन की याद नहीं आयी। कोई बात नहीं। हम याद कर लेते हैं!

1949 में चीनी क्रान्ति सफल होने से पहले चीन ओलम्पिक में 1924 से 1948 तक 'रिपब्लिक ऑफ चाइना' (ROC) के नाम से भाग लेता था। लेकिन सबसे पहले 1952 के ओलम्पिक में 'पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना' (PRC) नाम से भाग लिया, जिसमें उसने कोई पदक हासिल नहीं किया। उसके बाद 1980 तक वह ओलम्पिक से दूर रहा। 32 वर्षों बाद 1984 के ओलम्पिक में जब चीन ने भाग लिया तो 15 स्वर्ण पदक के साथ कुल 32 पदक जीता। यह जीत अनायास ही नहीं थी। 1949 से 1976 तक चीन में जो समाजवादी निर्माण का दौर चला उसमें सिर्फ़ खेल ही नहीं शिक्षा, स्वास्थ्य से लेकर आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक ताने बाने में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। चीन की क्रान्ति और 1976 तक हुए समाजवादी निर्माण के दौर ने उस बुनियाद की नींव रखी जिस पर आज चीन विभिन्न क्षेत्रों में तमाम विकसित और साम्राज्यवादी देशों को चुनौती देता है और ख़ुद भी साम्राज्यवादी महात्वाकांक्षा पाले हुए है। भारत ने अपने 121 साल के ओलम्पिक के सफ़र में अबतक मात्र 35 पदक ही जीते हैं। वहीं चीन 69 साल के ओलम्पिक सफ़र में अबतक 696 पदक जीत चुका है। अगर सर्वाधिक पदक जीतने वाले देशों से हम अपनी तुलना करेंगे तो पायेंगे कि हम उनसे सैकड़ों गुना पीछे हैं।

देश ----- पदकों की संख्या
अमेरिका ----- 2941
रूस ------ 1275
ब्रिटेन ----- 948
चीन ------ 696
जापान ----- 555
भारत ---- 35

**आधुनिक ओलम्पिक खेलों का इतिहास और उसका राजनीतिक अर्थशास्त्र!**

वर्ग समाज में उत्पादन के साधनों पर जिस वर्ग का प्रभुत्व होता है वह वर्ग आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर वर्चस्वकारी भूमिका में होता है। खेल और उससे जुड़े हुए आयोजन भी वर्ग निरपेक्ष नहीं है बल्कि वे भी किसी न किसी रूप में शासक वर्ग के हितों की ही सेवा करने का काम करते हैं। ओलम्पिक से लेकर एशियाड व कॉमन वेल्थ गेम्स तक और क्रिकेट वर्ल्ड कप से लेकर फीफा वर्ल्ड कप तक तमाम अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के दौरान जो अन्धराष्ट्रवादी उन्माद पैदा किया जाता है वह वर्ग संघर्ष की धार को कुन्द करने का ही काम करता है। एक तरफ़ खेलों की राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के दौरान पूँजीपति वर्ग को खेल, मनोरंजन और विज्ञापन उद्योग से अकूत मुनाफ़ा कमाने की ज़मीन मुहैय्या होती है, तो वहीं इन आयोजनों में जो अन्धराष्ट्रवादी उन्माद पैदा किया जाता है वह वर्ग संघर्ष की आँच पर छीटें मारने का काम ही करता है। आइये अब एक नज़र आधुनिक ओलम्पिक के इतिहास और इसकी वर्गीय पक्षधरता पर भी डालते हैं !

आधुनिक ओलम्पिक खेलों का जनक फ्रांस का शिक्षाविद और इतिहासकार कुबिर्तान (Baron Pierre de Coubertin) था, जो नस्लवादी होने के साथ ही घोर स्त्री विरोधी भी था। आधुनिक ओलम्पिक खेल ऐतिहासिक पेरिस कम्यून (1871) के ठीक 25 सालों बाद 1896 में शुरू हुआ। कुबिर्तान अपने एक लेख (France Since 1814) में ओलम्पिक खेलों के उद्देश्य को साफ़-साफ़ रखते हुए कहता है – 'खेल वर्ग संघर्ष को शान्त करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, ताकि दुबारा पेरिस कम्यून जैसी घटना न घटित हो'। उसके इस कथन से ही ओलम्पिक खेलों की राजनीति को समझा जा सकता है। 1936 के बर्लिन ओलम्पिक में किस प्रकार हिटलर ने इस प्लेटफार्म का इस्तेमाल उग्र राष्ट्रवाद और फ़ासीवाद के प्रचार के लिए किया, ये आज हम सभी जानते हैं। यदि हम भारत के सन्दर्भ में ही बात करें तो स्टार खिलाड़ियों और फ़िल्म स्टारों का इस्तेमाल किस प्रकार संघ और मोदी सरकार अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को फैलाने के लिए करती है ये भी किसी से छिपा नहीं है। जो खिलाड़ी अपनी खेल की प्रतिभा से करोड़ों लोगों का दिल जीत लेते हैं वही खिलाड़ी आगे चलकर भाजपा और संघ की नीतियों के प्रचारक बन जाते हैं। वर्तमान ओलम्पिक में ही हॉकी खिलाड़ी वन्दना कटारिया को एक 'दलित आइकन' की तरह पेश किया गया और उसके दो दिन बाद ही वो 'भाजपा आइकन' में बदल गयी। उन्हें 'बेटी पढ़ाओ और बेटी बचाओ' आन्दोलन का उत्तराखण्ड का ब्राण्ड एम्बेस्डर घोषित कर दिया गया। यह सिर्फ़ एक तात्कालिक उदाहरण है। इसके पहले भी बहुत सारे क्रिकेट से लेकर अन्य खेलों के खिलाड़ी और फ़िल्म स्टार्स तक संघ और मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियों के साथ खड़े हुए दिखायी देते हैं।

पूँजीवादी समाज में खेल भी पूँजीपतियों के लिए अधिशेष निचोड़ने का एक साधन है। दुनियाभर की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बड़े-बड़े खेल आयोजनों की प्रायोजक होती हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आने के बाद से खेल उद्योग, मनोरंजन उद्योग, और विज्ञापन उद्योग आपस में बहुत ही घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। खेल का काम है स्टार पैदा करना जिन्हें ये कम्पनियाँ अपने उत्पादों का ब्राण्ड एम्बेस्डर बनाकर अकूत मुनाफ़ा कमाती हैं। ओलम्पिक खेल की बुनियादी प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। यह सामूहिक सर्जना, सामूहिक रचनात्मकता, और सामूहिक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं रह गया है बल्कि ये मुनाफ़े के पूरे तन्त्र का एक अंग बन गया है। जिन देशों में ओलम्पिक का आयोजन होता है वहाँ सरकारें खेलों के लिए बहुत बड़ा इंफ्रास्ट्रक्चर तैयार करती हैं जो जनता के टैक्स से बनता है। लेकिन इन आयोजनों में होने वाले अकूत मुनाफ़े को बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी जेबों में भर लेती हैं। इन बड़े-बड़े खेल आयोजनों का एक दूसरा पहलू यह भी है कि जिन शहरों में ये आयोजित किये जाते हैं वहाँ की गरीब मेहनतकश आबादी के ऊपर आफ़त बनकर टूटते हैं। बड़े पैमाने पर ग़रीब बस्तियों को उजाड़ा जाता है। हजारों-लाखों लोग बेघर हो जाते हैं। वहाँ के नागरिकों पर तमाम तरह की बन्दिशें लागू कर दी जाती हैं। पूरे शहर को पुलिस-फ़ौज की छावनी में तब्दील कर दिया जाता है। इस पूरी घटना को हम 2010 में हुए दिल्ली के कॉमनवेल्थ गेम से भी समझ सकते हैं जो ओलम्पिक की तरह बहुत बड़ा और भव्य तो नहीं होता है, लेकिन 2010 में हुए कॉमन वेल्थ गेम ने दिल्ली की ढाई लाख ग़रीब आबादी को विस्थापित कर दिया। अरबों रुपये के घोटाले हुए। जनता के टैक्स के दम पर खेल गाँव से लेकर स्टेडियम, फ़ाइव स्टार होटल, फूड कोर्ट आदि बनाये गये। लेकिन उससे होने वाले अकूत मुनाफ़े को बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ ले गयीं।

सच तो यही है कि ओलम्पिक का आयोजन विश्व उपभोक्ता बाज़ार को चार साल में एक बार एक मंच पर ले आना है। इसे ओलम्पिक के भूतपूर्व मार्केटिंग डायरेक्टर 'मिशेल पाने' ने साफ़ शब्दों में कहा है कि 'कम्पनियों के लिए ओलम्पिक से अच्छा प्लेटफॉर्म और कहाँ मिल सकता है, जहाँ वे अपने विश्व उपभोक्ताओं को इतने ताकतवर तरीके से आपस में जोड़ सकें और अपने उत्पाद का प्रचार उन तक पहुँचा सके'।

1917 की रूसी क्रान्ति के बाद समाजवादी रूस ने ओलम्पिक खेलों का बहिष्कार किया और ओलम्पिक पर यह कहते हुए हमला किया कि यह अन्तरराष्ट्रीय बुर्जुआ के हाथों की कठपुतली है और अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा को वर्ग संघर्ष से हटाकर प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद और युद्ध के लिए तैयार करता है। 1921 के तीसरे कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में 'रेड स्पोर्ट इण्टरनेशनल' (RSI) की स्थापना की गयी। सामाजिक जनवादियों ने भी ओलम्पिक के विरुद्ध 'सोशलिस्ट वर्कर स्पोर्ट इण्टरनेशनल' (SWSI) का गठन किया। 1936 में हिटलर के बर्लिन ओलम्पिक के ख़िलाफ़ कम्युनिस्ट समाजवादियों ने स्पेन के बर्सिलोना में 'जन ओलम्पिक' का आयोजन किया। उसी समय तानाशाह फ्रांको ने नव स्थापित रिपब्लिक के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। 'जन ओलम्पिक' के लिए पूरे यूरोप से जो एथलीट बार्सिलोना में इकट्ठा हुए थे उनमें से अधिकांश ने रिपब्लिक की रक्षा में बन्दूक उठा ली थी और फ्रांको के ख़िलाफ़ इण्टरनेशनल ब्रिगेड का हिस्सा हो गये थे। खेल और क्रान्तिकारी राजनीति का यह शानदार मेल था। बाद में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बदली राजनीतिक परिस्थितियों में रूस ओलम्पिक में शामिल होने लगा।

ओलम्पिक जैसे खेलों के राजनीतिक अर्थशास्त्र को समझने

के बावजूद हमें यह समझना होगा कि खेल की प्रकृति शुरू से ही मुनाफ़े के तन्त्र की नहीं थी बल्कि खेल का विकास मानव सभ्यता के तमाम सामाजिक-सांस्कृतिक विकासों के साथ ही नैसर्गिक रूप से जुड़ा हुआ है। आज भले ही खेल एक ख़ास छोटे तबके का विशेषाधिकार बना हुआ है और बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी इससे वंचित हो गयी है। जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के साथ ही खेल भी इंसान की एक नैसर्गिक ज़रूरत है और इसे हासिल करने के लिए भी हमें संघर्ष करना होगा।

## "दुनिया के सर्वाधिक कठिन प्रश्न का जवाब" :

ओलम्पिक जैसे खेलों के राजनीतिक अर्थशास्त्र को समझने के बावजूद भी कुछ दूसरे महत्वपूर्ण सवाल ज़रूर उठते हैं कि आख़िर क्या कारण है कि दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश जहाँ की युवा ऊर्जा सबसे ज़्यादा है वहाँ से बेहतरीन खिलाड़ी नहीं निकल पाते। बहुत सारे खेल विशेषज्ञ और पत्रकार जब "दुनिया के इस सर्वाधिक कठिन प्रश्न पर" आते हैं तो कुछ ख़ास-ख़ास मुद्दों को बताते हुए कुछ नैतिक उपदेश सुनाते हुए इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर देते हैं। उनके हिसाब से सबसे बड़ी समस्या खेलों में नेताशाही और नौकरशाही की दखल है और इस दखल से वे बेइन्तहां नफरत करते हैं क्योंकि उनके हिसाब से नेताओं और नौकरशाहों के भ्रष्टाचार, गुटबाज़ी और भाई-भतीजावाद के कारण खेल प्रतिभाएँ निकलकर सामने नहीं आ पातीं। उनकी चाहत यह रहती है कि अगर एक ईमानदार नेता या नौकरशाह खेल संघों या मन्त्रालयों में आता है तो ही कुछ हो सकता है नहीं तो इन संघों और मन्त्रालयों में खिलाड़ियों को ही पद-ओहदे दिये जाने चाहिये। तभी खेल और खिलाड़ियों का भविष्य बेहतर हो सकता है। आंशिक रूप से इन बातों में सच्चाई है। लेकिन इसका दूसरा पहलू यह भी है कि ये तमाम खेल विशेषज्ञ और पत्रकार खेल संघों, परिषदों और मन्त्रालयों के ढाँचे और उसकी कार्यप्रणाली की बात क्यों नहीं करते। वे यह भी सवाल नहीं उठाते कि क्या ये संस्थाएँ जनवादी तरीके से काम करती हैं, और क्या इन पर जन निगरानी रहती है या नहीं! ये विशेषज्ञ व्यक्तियों में ईमानदारी और नैतिक चरित्र के इतने आग्रही हैं कि इन्हें सारी समस्याओं की जड़ इन्हीं दो चीज़ों की कमी लगती है। ये मौजूदा पूँजीवादी राजनीतिक-आर्थिक ढाँचे पर कोई सवाल नहीं उठाते। इस ढाँचे में सिर्फ़ नेता या नौकरशाह ही नहीं अगर खिलाड़ियों को भी पद-ओहदा दे दिया जाये तो वे भी गुटबाज़ी, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार आदि में लिप्त हो जायेंगे और हुए भी हैं। नेता और अफसर तो उन देशों में भी हैं, जिनके सैकड़ों खिलाड़ी राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में अपनी रचनात्मकता और सर्जनात्मकता से पूरी दुनिया में नाम कमा रहे हैं। उनकी सफलता कोई तात्कालिक नहीं है बल्कि उनके बेहतरीन प्रदर्शन को कई दशकों से निरन्तरता में देखा जा सकता है, जहाँ नेता और अफसर तो आते-जाते रहते हैं। खेल और खिलाड़ियों की दुर्दशा के जिस मुख्य कारण को बताते हुए यहाँ के खेल विशेषज्ञ लाल-पीले होते रहते हैं वो मुख्य कारण है ही नहीं।

खेल में पिछड़ेपन होने का रोना फण्डिंग की कमी को भी बताया जाता है। यह भी आंशिक सच है लेकिन खेल और खिलाड़ियों की दुर्दशा का कारण सिर्फ़ फण्ड की कमी ही नहीं है। असल में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में खेल भी एक माल है। और हर माल की एक मार्केट वैल्यू होती है। इसी वैल्यू के हिसाब से पूँजीपति इसमें पैसा लगाते हैं। सरकारें भी एक हद तक उसी खेल को ज़्यादा प्रमोट करती हैं जो पूँजीपतियों के तात्कालिक लाभ की पूर्ति करता है। यही कारण है कि भारत में क्रिकेट से लेकर अन्य खेलों तक में जो पूँजी लगती है वो उस खेल की मार्केट वैल्यू के हिसाब से ही लगती है। यह अनायास ही नहीं है कि ज़्यादातर खिलाड़ी ख़ुद से ही आर्थिक संसाधन जुटाकर अपने खेल को जारी रख पाते हैं। सरकार का ध्यान भी तब जाता है जब उनमें से कोई राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करके अपनी मार्केट वैल्यू को ऊँचा उठा देता है।

खेल में पिछड़ेपन की एक वजह ये भी बता दी जाती है कि जनता के बीच खेलों को लेकर कोई उत्साह नहीं है। यहाँ तो 'पढ़ोगे-लिखोगे बनोगे नवाब, खेलोगे-कूदोगे होगे ख़राब' जैसी कहावत चलती है। ऐसे में खेलों को नौजवानों के बीच में कैसे स्थापित किया जा सकता है? ज़ाहिर सी बात है कि किसी भी कहावत की एक भौतिक ज़मीन होती है। भारत जैसे देश में जहाँ अस्सी फ़ीसदी आबादी जीवन जीने की बुनियादी शर्तों को पूरा करने में ही ज़द्दोजहद करती हो, वहाँ ये उम्मीद ही कैसे की जा सकती है कि लोग एक ऐसे क्षेत्र में अपनी ऊर्जा और क्षमता को लगाना पसन्द करेंगे, जो उनकी तात्कालिक समस्या को हल न कर सके।

असल में देखा जाये तो शिक्षा-स्वास्थ्य-रोज़गार-भोजन-आवास व मनोरंजन की तरह खेलकूद भी नौजवानों की एक मूलभूत आवश्यकता है, और हर बुनियादी आवश्यकता से वंचित बहुसंख्यक आबादी खेलकूद और इसके स्रोत-संसाधन से भी वंचित है। भारत के पिछड़े पूँजीवादी राज्य के आर्थिक राजनीतिक ढाँचे ने जो सामाजिक-सांस्कृतिक संकुचन को जन्म दिया है उसमें किसी भी क्षेत्र में प्रतिभाओं का प्रस्फुटन सम्भव नहीं है। यह पूँजीवादी ढाँचा इस रूप में काम करता है जैसे - पहाड़ों से निकलकर जब नदियाँ तेजी से नीचे की तरफ उछलती-कूदती, बड़े-बड़े पत्थरों से टकराती, उन्हें तोड़ती, बहाती, हरहराती हुई नीचे आती है, लेकिन आगे बाँध बनाकर उनकी पूरी ऊर्जा और गति को रोक दिया जाता है और फिर जब बाँधों से नदियाँ निकलती हैं तो उनकी गति एक़दम मंथर, धीमी, बिना किसी आवाज़, जोश और उत्साहविहीन हो जाती हैं। इसी प्रकार देश के नौजवानों की पूरी रचनात्मक सर्जनात्मक क्षमता भी पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक-सामाजिक सांस्कृतिक माहौल में ख़त्म हो जाती है।

## प्रोमेथियस की तरह अपने हिस्से की आग को लेना होगा :

अब बहुत से महानुभाव यह कहेंगे कि पूँजीवाद तो अमेरिका में भी है, यूरोप में भी है, जापान में भी है (वैसे तो चीन और रूस में भी है)। लेकिन वहाँ तो प्रतिभाएँ ख़त्म नहीं होतीं। ओलम्पिक जैसे खेलों में मेडलों की बारिश तक हो जाती है। तो भारत में ऐसा क्यों नहीं हो सकता! तो उसका कारण यह है ज़नाब कि इन देशों में सामाजिक जीवन की समृद्धि को बेहतर बनाने, सिर्फ़ खेल ही नहीं बल्कि अनेक क्षेत्रों में उन्नत तकनीक का इस्तेमाल करने में जो प्रचुर पूँजी और संसाधन लगते हैं उसका सबसे बड़ा हिस्सा तीसरी दुनिया के देशों की लूट से आता है। उस लूट के एक हिस्से

से वहाँ के नौजवानों और नागरिकों को खेल से लेकर अनेक क्षेत्रों में राज्य द्वारा भविष्य की सुरक्षा और संरक्षण भी मिल जाता है। दूसरी बात वहाँ पूँजीवाद सामन्तवाद के ख़िलाफ़ एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के द्वारा आया है, इस कारण वहाँ के नागरिकों के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में जनवाद के बुनियादी मूल्य और चेतना मौजूद है जो उन्हें रचनात्मकता और प्रयोगों के व्यापक सामाजिक परिवेश मुहैय्या कराते हैं। भारत जैसे देश में पूँजीवादी विकास कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन से नहीं बल्कि ऊपर से थोपी गयी क्रमिक और मंथर गति से हुआ है। इस पूँजीवादी विकास में सामन्ती मूल्य और संस्कृति के बहुत सारे तत्व अभी भी शामिल हैं। जिस कारण भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में वो माहौल और रचनात्मकता प्रस्फुटित नहीं हो पाती। पुरुषवादी पितृसत्तात्मक सोच बहुसंख्यक लड़कियों को खेल से बाहर कर देती है। जातिगत पार्थक्य, धार्मिक भेदभाव और पूँजीवादी अलगाव ने भी समूह भावना और खेल भावना को बढ़ाने में बहुत बड़ी बाधा पहुँचायी है। इसके अलावा गाँव-बस्तियों-शहरों आदि का जो पूरा परिवेश है उसमें प्रतिभाओं को निखरने और माँजने का कोई स्कोप ही नहीं है। जिन बस्तियों में पतली-पतली गलियाँ और बजबजाती नालियाँ ही मुख्य सड़क हो, वहाँ खेलना तो दूर, चलना भी मुश्किल है। भारतीय शहरों और कस्बों के पूरे ढाँचे में पार्क, जिम, स्टेडियम, स्पोर्ट्स क्लब, पुस्तकालय, साहित्य-कला-संगीत केन्द्रों का बेइन्तहां अभाव है। ऐसे में बहुसंख्यक नौजवानों की पहुँच इन तक हो ही नहीं पाती।

ये सारे सामाजिक-सांस्कृतिक अवरोधक इसी पूँजीवादी आर्थिक-राजनीतिक ढाँचे के ही एक अंग और उसकी ज़रूरत है। इन्हें तोड़ने के लिए व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति की ज़रूरत है। कहने को तो भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है। लेकिन क्या भारतीय शासक वर्ग किसी लोकतान्त्रिक देश के बुनियादी कर्तव्य यानी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, भोजन और आवास के साथ ही भविष्य सुरक्षा की गारण्टी देते हैं। तो जवाब है नहीं! बिना इसके ये उम्मीद करना कि खेलों में भी नयी प्रतिभाएँ आ जायेंगी, बहुत ही मुश्किल है। मिल्खा सिंह तो एक गिलास दूध पीने के लिए सेना की दौड़ में शामिल हुए और वहाँ उनकी प्रतिभा का पता चला। लेकिन देश के करोड़ों नौजवानों की किस्मत मिल्खा सिंह की तरह नहीं होती। उन्हें अपने रोज़गार और भोजन की तलाश में कहीं न कहीं भटकना ही पड़ता है। फिर चाहे उनके अन्दर किसी भी तरह की प्रतिभा क्यों न छिपी हो। यह अकारण नहीं है कि जिन देशों में समाजवादी क्रान्तियाँ हुई और वहाँ के नौजवानों को भविष्य की सुरक्षा की गारण्टी मिली तो वहाँ जीवन के हर क्षेत्र में चाहे वो विज्ञान, कला, साहित्य , संस्कृति, खेल आदि हो आश्चर्यजनक तरक्की हुई।

कहते हैं ओलम्पिक में जो मशाल जलायी जाती है, वो प्रोमेथियस द्वारा इंसानों के लिए देवताओं से चुरा कर लायी गयी आग के प्रतीक के तौर पर और उसके सम्मान में जलायी जाती है। भारत की जनता और नौजवानों को भी जो तमाम स्रोत-संसाधनों से वंचित कर दिये गये हैं और जिनके हिस्से पर चन्द मुट्ठी भर पूँजी के देवताओं का कब्ज़ा है, प्रोमेथियस बनना होगा और अपने हिस्से की आग को उनसे छीन लेना होगा। तभी हम जीवन के हर एक क्षेत्र को चाहे वो खेल ही क्यों न हो मशाल की तरह रौशन कर सकते हैं।

# 'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

**दोस्तो,**

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। हम आपको बताना चाहते हैं कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर के सहयोग करें। 2. अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवाएँ। 3. 'आह्वान' के लिए आर्थिक सहयोग भेजें। साथ ही, 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र भेजने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि नीचे दिये गये बैंक खाते में भेज सकते हैं या आह्वान के पते पर चेक/ड्राफ़्ट/मनी-ऑर्डर भेज सकते हैं। आर्थिक सहयोग या सदस्यता राशि भेजते समय हमें सूचित अवश्य करें और अपना पूरा पता और फ़ोन नम्बर ज़रूर दें।

**मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, बादली शाखा, खाता नं. 21360100010629,**
**IFSC: BARB0TRDBAD (BARB के बाद 0 (शून्य) है)**

**साभिवादन,**
**सम्पादक**

सामयिकी

# उत्तर प्रदेश जनसंख्या विधेयक – 2021 : जनता के जनवादी अधिकारों पर फ़ासीवादी हमला!

**अमित**

उत्तर प्रदेश की योगी सरकार द्वारा हाल ही में उत्तर प्रदेश जनसंख्या (नियन्त्रण, स्थिरीकरण एवं कल्याण) बिल – 2021 का प्रारूप जारी किया गया है। इसमें प्रावधान करने का प्रस्ताव रखा गया है कि दो से ज़्यादा बच्चे वाले माँ-बाप के निकाय चुनाव लड़ने, सरकारी सुविधाओं का लाभ लेने, सरकारी नौकरियों के लिए आवेदन करने और प्रमोशन हासिल करने आदि पर रोक लगा दी जायेगी। इतना ही नहीं, इस बिल में किसी भी परिवार में चार व्यक्तियों का ही राशन कार्ड बनाये जाने जैसे कई जनविरोधी प्रावधान किये गये हैं।

वास्तव में योगी सरकार द्वारा लाया गया यह बिल जनता के जनवादी अधिकारों पर एक फ़ासीवादी हमला है। ग़ौरतलब है कि पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकारों द्वारा व्यवस्था जनित संकटों, जैसे ग़रीबी, बेरोज़गारी, भुखमरी आदि के लिए जनता को ही ज़िम्मेदार ठहराये जाने के लिए जनसंख्या में वृद्धि को एक हथकण्डे के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। साथ ही फ़ासीवादी भाजपा और संघ परिवार पिछले लम्बे समय से जनसंख्या में वृद्धि और मुस्लिम आबादी की जनसंख्या बढ़ने के मिथक का प्रचार करके साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति करते रहे हैं। पूरी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा आम तौर पर पूँजीवादी व्यवस्था में जनता की तबाही-बर्बादी के लिए लोगों को ही दोषी ठहरा देने के लिए जनसंख्या बढ़ने के हौव्वे का इस्तेमाल किया जाता है। पाठ्यक्रम के माध्यम से जनसंख्या को एक समस्या के रूप में बचपन से ही दिमाग़ में बैठा दिया जाता है। दूसरी ओर, अगर निजी जीवन के अनुभव से देखा जाय, तो ट्रेनों-बसों में यात्रा करते समय, अस्पतालों, परीक्षाओं का फॉर्म भरने और रोज़गार आदि के लिए लगने वाली लम्बी कतारों से हर जगह यही महसूस होता है कि जनसंख्या बहुत बढ़ गयी है। इसीलिए बहुत से लोगों को यह तर्क सही भी लगता है। दूसरे, भाजपा के साम्प्रदायिक प्रचार के प्रभाव में एक बड़ी हिन्दू आबादी इसे मुसलमानों पर लगाम लगाने के रूप में देखकर खुश है।

बिल में कहा गया है कि प्रदेश में संसाधनों की बहुत कमी है और समान वितरण तथा सतत विकास को बढ़ावा देने के लिए राज्य की जनसंख्या को नियन्त्रित करना, स्थिर करना ज़रूरी है। ज़ाहिर है कि जनसंख्या को स्थिर करके समान वितरण और सतत विकास की बात सिर्फ़ एक सफ़ेद झूठ है। अगर अभी की स्थिति में बात करें तो उत्तर प्रदेश अनाज उत्पादन के मामले में देश के अग्रणी राज्यों में है। उत्तर प्रदेश गेहूँ, गन्ना के उत्पादन में पहले नम्बर पर और चावल के उत्पादन में दूसरे नम्बर पर है। यह अनाज एफ़सीआई के गोदामों में सड़ता रहता है, चूहे खाते हैं और शराब बनाने वाली कम्पनियाँ सस्ते दामों में ले जाती हैं। लेकिन दूसरी ओर रोज़ भूख और कुपोषण से हजारों मौतें हो जाती हैं। प्रदेश और देश में जगह-जगह प्राकृतिक संसाधन बिखरे पड़े हैं। इलाहाबाद के नैनी, कानपुर, बिजनौर, चित्रकूट, पूर्वी उत्तर प्रदेश में जगह-जगह चीनी मिलें, मिर्जापुर में कृषि यन्त्र कारखाने, प्रतापगढ़ में एटीएल कारखाना आदि पिछले कई सालों से बन्द हैं। वहाँ पड़ी मशीनें और पूरा ढाँचा बर्बाद होता जा रहा है। यही हालत पूरे देश भर में है। सरकार के पास न तो दिक्कत बुनियादी ढाँचे की है, न तो किसी अन्य चीज़ की। आह्वान के पिछले अंकों में हम दिखा चुके हैं कि आज़ादी के बाद से अब तक देश में खाद्यान, खनन और उद्योगों में आबादी की तुलना में कई सौ गुना की वृद्धि हो चुकी है। सांसदों-विधायकों की ऐय्याशी, चुनावी रैलियों में पानी की तरह बहाये जा रहे पैसों का कोई हिसाब ही नहीं है। लेकिन जब जनता की बात आती है तो संसाधनों की कमी पड़ जाती है। अगर इन पैसों और संसाधनों का ठीक से इस्तेमाल किया जाये तो करोड़ों नौजवानों को रोज़गार दिया जा सकता है। इतना ही नहीं, हर सरकारी विभाग में बड़े पैमाने पर पद खाली पड़े हैं, लेकिन इन पदों को भरने के बजाय सारा काम संविदा और ठेके पर कराया जा रहा है और तमाम सरकारी विभाग और निजी हाथों में सौंपे जा रहे हैं। इन खाली पदों को भरने पर ही लाखों रोज़गार सृजित हो सकता है। सेण्ट्रल विस्टा प्रोजेक्ट, जिसको जारी रखने के लिए फ़ासिस्टों ने कोरोना महमारी के दौरान विशेष क़ानून तक बना दिया, में खर्च किये जा रहे रु. 20,000 करोड़ में, रु. 100 करोड़ की लागत वाले 200 अस्पताल बनाये जा सकते हैं। लेकिन इन सब बातों पर पर्दा डालने के लिए जनसंख्या का हौव्वा खड़ा किया जाता है।

दूसरे सरकार इस बिल को लाने के पीछे यह उद्देश्य बता रही है कि इस बिल के माध्यम से प्रदेश में कुल प्रजनन दर (टीएफ़आर) को 2.1 प्रतिशत पर लाया जाएगा। टीएफ़आर का 2.1 प्रतिशत होने का अर्थ है जनसख्या का स्थिर हो जाना। लेकिन वर्ल्ड बैंक 2018 के आँकड़ों के हिसाब से भारत की प्रजनन दर घटते हुए 2.2 पर पहुँच गयी है और इसमें भी उत्तर प्रदेश में इसके घटने की दर पूरे देश के औसत से कहीं ज़्यादा है। प्रजनन दर का 2.1 प्रतिशत होना जनसंख्या के स्थिर होने का मानक माना जाता है। साफ़ है कि देश की जनसंख्या आने वाले सालों में और घटेगी। इतना ही नहीं, इन आँकड़ों की और गहराई से छानबीन की जाए तो संघ परिवार के मुस्लिम आबादी के बढ़ने के झूठे प्रचार की भी पोल खुल कर सामने आ जाती है। नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे के आँकड़ों के अनुसार 2005-06 से 2015-16 के दस सालों में जहाँ हिन्दू आबादी की टीएफ़आर में 0.5 प्रतिशत की कमी आई थी, वहीं मुस्लिम आबादी में यह कमी 0.8 प्रतिशत की है। बहुत से सर्वेक्षणकर्ताओं ने यह अनुमान लगाये हैं कि 2071 तक हिन्दू तथा मुस्लिम आबादी की जनसंख्या वृद्धि दर बराबर हो जायेगी। लेकिन

संघ परिवार अपने आदर्श हिटलर और मुसोलिनी जैसे फ़ासिस्टों के नक्शे क़दम पर चलते हुए इस फ़ासीवादी मिथ्याप्रचार को हवा देता रहता है।

वास्तव में जनसंख्या को सभी समस्याओं का कारण बताकर जनता के सिर पर ठीकरा फोड़ने का काम पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा बहुत लम्बे समय से किया जा रहा है। 18वीं सदी में माल्थस द्वारा दिए गये तर्क का भ्रम फ़ैलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुपात में उत्पादन में होने वाली वृद्धि बहुत कम होती है। माल्थस के अनुसार जनसंख्या 2, 4, 8, 16.. के हिसाब से यानी गुणोत्तर श्रेणी में बढ़ती है जबकि संसाधन में वृद्धि समान्तर श्रेणी यानी 1, 2, 3, 4... के रूप में होती है। माल्थस ने इस समस्या का बहुत ही मानवद्रोही हल दिया था जो कि अमीर तबकों व शासक वर्ग व उनके तलुआचाट बुद्धिजीवियों को बहुत भाता है। माल्थस का हल यह था कि महामारी आदि को रोकना नहीं चाहिए बल्कि महामारियों से होने वाली आम जनता की मौतों से सन्तुलन बना रहेगा। आज के वर्तमान फ़ासीवादी उभार के दौर में यह तर्क नस्ल, धर्म आदि के नाम पर आबादी के क़त्ले-आम की तरफ ले जाता है। वास्तव में माल्थस का यह सिद्धान्त आँकड़ों की हेराफ़ेरी और झूठ पर आधारित था। माल्थस ने अपने इस मानवद्रोही सिद्धान्त को सही साबित करने के लिए आबादी में वृद्धि का आँकड़ा अमेरिका से लिया था और खाद्यान्न तथा आजीविका के साधनों की वृद्धि के लिए फ्रांस को आधार बनाया था। ग़ौरतलब है कि अमेरिका की आबादी के बढ़ने की वज़ह प्राकृतिक नहीं बल्कि बड़े पैमाने पर वहाँ पर प्रवासियों का आना था। जबकि दूसरी ओर फ्रांस के संसाधनों की फ्रांस की आबादी से तुलना की जाये तो यह सामने आता है कि आबादी के अनुपात में संसाधन कहीं तेज़ी से बढ़ रहे थे। फ़िर भी इस झूठ को पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकारों द्वारा हाथोंहाथ लपक लिया गया।

आज पूरी दुनिया भर में आबादी में बढ़ोत्तरी का एक कारण ग़रीबों द्वारा ज़्यादा बच्चा पैदा करना नहीं, बल्कि मृत्यु दर में आनेवाली कमी है। मसलन, 1950-55 में दुनिया भर का औसत सम्भावित जीवन तक़रीबन 46 साल हुआ करता था, जो कि 2000-05 में 65 साल हो गया। कई देशों में आबादी बढ़ोत्तरी दर शून्य से कम है। जिस रफ़्तार आबादी से बढ़ रही है, उस रफ़्तार से 2040 तक आबादी क़रीब 7.6 अरब तक पहुँचेगी। उसके बाद यह घटेगी और 21वीं सदी के अन्त में 5 अरब रह जायेगी। जिसमें बच्चे और नौजवान बहुत कम होंगे, बुज़ुर्गों की संख्या बहुत ज़्यादा होगी। आज इन्हीं वज़हों से जापान और चीन जैसे देशों में जनसंख्या नीति में बदलाव किये गये हैं।

सच्चाई यह है कि भुखमरी, कुपोषण, बेरोज़गारी सहित सभी समस्याओं की असली वज़ह लूट और मुनाफ़े पर टिकी यह पूँजीवादी व्यवस्था है। इसलिए इन समस्याओं को हमेशा के लिए ख़त्म करने के लिए इस लुटेरी व्यवस्था को तबाह करके इसकी जगह पर समतामूलक समाज का सपना बनाने के लिए एकजुट होना होगा। आज छात्रों-युवाओं को न केवल जनता के बीच में जाकर जनसंख्या के सवाल फैलाये गये भ्रम को साफ़ करना चाहिए बल्कि संगठित होकर इस जनविरोधी बिल का विरोध करना चाहिए और अपनी एकजुटता के दम पर समान शिक्षा-सबको रोज़गार, भोजन, स्वास्थ्य और आवास के बुनियादी अधिकारों के लिए सरकार को मजबूर करना चाहिए।

**पेज 58 का शेष**

## भारत छोड़ो आन्दोलन की 79वीं बरसी पर

इस आन्दोलन के चन्द घटनाओं के ब्योरे इसके विस्तार और प्रभाव का अहसास दिलाते हैं। इस आन्दोलन ने निश्चित रूप से जन पहलक़दमी को खुलने का अवसर दिया लेकिन इसका नेतृत्व बुर्जुआ वर्ग के तहत ही बना रहा।

हमें इस बात का अहसास होना चाहिए कि कांग्रेस किस प्रकार अन्त तक बातचीत व समझौते का रास्ता खुला रखे हुए थी क्योंकि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद कर ही नहीं सकता था। ज़्यादा से ज़्यादा वह मोल-तोल कर सकता था। इसलिए कांग्रेस ने बिना किसी निश्चित कार्यदिशा के या देश स्तर पर बिना कोई योजना के भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा कर दी। कांग्रेसी नेताओं को पता था कि उनकी गिरफ़्तारी आसन्न थी और इसलिए ही उनमें से ज़्यादातर 8 अगस्त से पहले ही अपने व्यक्तिगत पारिवारिक मामले और वित्त का निपटारा कर चुके थे। वैसे गाँधी ने अपने वक्तव्य में अहिंसात्मक तरीकों को ही अपनाने की बात कही थी लेकिन पूरे अगस्त क्रान्ति के घटनाक्रम के हिंसात्मक रवैये पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। यहाँ ब्रिटिश सरकार द्वारा सीधे कांग्रेस पर हिंसा करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता था। कांग्रेस ने बहुत चालाकी से बातचीत और समझौते का रास्ता भी खुला रखा और दूसरी तरफ़ भारत छोड़ो आन्दोलन की शुरुआत कर आम जन के बीच फिर से अपना नेतृत्व स्थापित किया। (जो कुछ हद तक 1937 के कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के काल में खो चुका था)। डी.डी.कोसाम्बी ने भी अपने लेख 'दी बुर्जुआ कॉमंस ऑफ़ एन ऐज इन इण्डिया' में लिखा है कि "जेल और यन्त्रणा-शिविरों की चमक-दमक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की कारगुजारी से ध्यान हटाने में सहायक हुई और इस प्रकार कांग्रेस जन सामान्य के बीच पुनः लोकप्रियता प्राप्त कर सकी।"

पूरे आन्दोलन में कांग्रेस पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी व संघ की भूमिका और उनकी नीतियों पर विस्तार से चर्चा की गयी ताकि यह समझा जा सके कि किस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व में यहाँ का पूँजीपति वर्ग अपनी शक्ति व हितों के अनुसार ब्रिटिश सरकार से समझौता-दवाब-समझौता की नीति के तहत चलता रहा और दूसरी तरफ़ कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण भारत छोड़ो आन्दोलन में शिरकत नहीं करने की नीति लागू करना उनकी बहुत बड़ी भूल थी। इसी का नतीजा था कि कम्युनिस्ट पार्टी का किसानों व मज़दूरों के बीच ठोस आधार होने के बावजूद वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में एक क़दम पीछे धकेल दिये गये और कांग्रेस से स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व छीनने में असफल रहे।

इन तमाम भूलों के बावजूद 'भारत छोड़ो आन्दोलन' देश की जनता की क्रान्तिकारी विरासत का एक अहम हिस्सा है। यह ऐसा आन्दोलन था जिसने ब्रिटिश सरकार की चूलें हिला दी थी। बेशक आन्दोलन अंग्रेज़ो के दमन द्वारा ख़त्म कर दिया गया। लेकिन यही वो आन्दोलन था जिसने अंग्रेज़ी सरकार पर दवाब बनाया जिससे कि आगे की आज़ादी का रास्ता प्रशस्त हुआ। हालाँकि नेतृत्व समझौतापरस्त कांग्रेस के हाथों में ही रहा और यह किसी जन क्रान्ति की तरफ़ नहीं बढ़ सका। परन्तु इसी आन्दोलन के बूते कांग्रेस वह समझौता कर सकी जिसकी परिणति 15 अगस्त 1947 की खण्डित-विकलांग आज़ादी थी।

सामयिकी

# प्रोजेक्ट पेगासस : शासक वर्ग का हाइटेक निगरानी तन्त्र और उसके अन्तरविरोधों का ख़ुलासा

**अविनाश**

कुर्सी ख़तरे में है
तो प्रजातन्त्र ख़तरे में है
कुर्सी ख़तरे में है तो
देश ख़तरे में है
कुर्सी ख़तरे में है तो दुनिया ख़तरे में है
कुर्सी न बचे तो
भाड़ में जाये
प्रजातन्त्र देश और दुनिया
गोरख पाण्डेय

अभी हाल ही में हुए 'पेगासस प्रोजेक्ट' ख़ुलासे से भारत की फ़ासीवादी मोदी सरकार और दुनिया की कई निरंकुश तानाशाह सरकारों द्वारा अपने राजनीतिक विरोधियों, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं, पत्रकारों, जनपक्षधर वकीलों, जनता के पक्ष में मजबूती से खड़े बुद्धिजीवियों और नागरिकों की हाईटेक जासूसी का भण्डाफोड़ हुआ। पेगासस जासूसी काण्ड तब सामने आया जब पेगासस स्पाइवेयर बनाने वाली इज़रायली टेक फ़र्म एन.एस.ओ. के ही व्हिसलब्लोवर ने फ़्रांस आधारित जनपक्षधर पत्रकारों के एक समूह 'फॉर्बिडेन स्टोरीज़' को 50 हज़ार से ज़्यादा फ़ोन नम्बरों की एक सूची मुहैया करवायी, जिनकी पेगासस स्पाइवेयर द्वारा या तो जासूसी की जा चुकी थी या की जा रही है या भविष्य में की जायेगी। दि गार्जियन, ले मोण्ड, वाशिंगटन पोस्ट, दि वायर, फ्रण्टलाइन समेत दुनियाभर के 17 जाने-माने मीडिया संस्थानों की लैब में इन नम्बरों की जाँच की गयी और इस जासूसी का पर्दाफ़ाश हुआ। 'द वायर' के मुताबिक़ भारत सरकार ने 2017 से 2019 के दौरान तक़रीबन 300 भारतीयों की जासूसी की है। आनन्द तेलतुम्बड़े, पूर्व चुनाव आयुक्त अशोक लवासा, कांग्रेस के चुनावी रणनीतिकार प्रशान्त किशोर, केन्द्रीय मन्त्री अश्वनी वैष्णव, पूर्व मुख्य न्यायधीश और भाजपा राज्यसभा सांसद रंजन गोगोई व इन पर यौन उत्पीड़न का आरोप लगाने वाली महिला, एम के वेणु, सिद्धार्थ वरदराजन, रोहिणी सिंह, स्वाति चतुर्वेदी सहित क़रीब 40 जनपक्षधर पत्रकारों, कांग्रेस नेता राहुल गाँधी, प्रियंका गाँधी, प्रफुल्ल पटेल सहित भाजपा के फ़ासीवादी एजेण्डे की पोल पट्टी खोलने वाले तमाम राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, वकीलों, बुद्धिजीवियों, विपक्षी नेताओं और यहाँ तक की अपनी ही पार्टी के विरोधी ब्लॉक के मन्त्रियों और नौकरशाहों आदि के फ़ोन की पेगासस के ज़रिये जासूसी की जा रही थी। कुर्सी के जाने का डर पहले भी राज करने वाली तमाम पार्टियों को रहा है। सत्ता बचाने के लिए ये पार्टियाँ जाति-धर्म-भाषा-क्षेत्र आदि के नाम पर नफ़रत के बीज बोने से लेकर एक हद तक जासूसी भी करवाती रही हैं लेकिन फ़ासीवादी मोदी सरकार ने इस मामले में पिछले सभी रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिये हैं। इसके अलावा दुनिया के स्तर पर फ़्रांस के राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रों, पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री इमरान खान, दक्षिण अफ़्रीका के राष्ट्रपति काईरिल रामाफोसा सहित कई देशों के प्रमुखों की जासूसी की जा रही थी।

पेगासस एक स्पाइवेयर है। स्पाइवेयर ऐसे ख़तरनाक सॉफ्टवेयर वायरस होते हैं जिसे दूर बैठा व्यक्ति उपयोगकर्ता की जानकारी के बिना केवल एक ईमेल, मिस्ड कॉल, व्हाट्सऐप सन्देश के ज़रिये उसके स्मार्टफ़ोन या कम्प्यूटर में इंस्टाल कर उपयोगकर्ता के क्रिया-कलापों पर निगरानी रख सकता है।

आख़िर ये स्पाइवेयर सिस्टम में प्रवेश कैसे करता है? हर प्रकार के कोड, ऑपरेटिंग सिस्टम या सॉफ्टवेयर में अलग-अलग तरह के बग्स (दोष) होते हैं। ये बग्स दो तरह के होते हैं। पहले, जो उपयोगकर्ता के अनुभव (user experience) को ख़राब करते हैं, इसमें किसी प्रकार की दिक्कत नहीं होती। इसे सॉफ्टवेयर बनाने वाली कम्पनी सॉफ्टवेयर अपडेट कर ठीक कर देती है। दूसरे सुरक्षा सम्बन्धित बग्स होते हैं, जिनमें से बहुत सारे बग्स के बारे में सॉफ्टवेयर बनाने वाली कम्पनी को भी नहीं पता होता है और इसी का इस्तेमाल कर स्पाइवेयर डिवाइस को निशाना बनाता है। इस पूरी प्रक्रिया को 'ज़ीरो डे अटैक' के नाम से जाना जाता है। एक बार स्पाइवेयर उपयोगकर्ता के सिस्टम में प्लाण्ट करने के बाद लोकेशन, कॉल डीटेल, ईमेल, व्हाट्सऐप, फोटो, वीडियो, नेटवर्क विवरण, फ़ोन नम्बर, बैंक अकाउण्ट, राशन कार्ड, बीमा, बिजली से सम्बन्धित जानकारियों के साथ ही व्यक्तियों के आदतों और रुचियों से सम्बन्धित जानकारियाँ जैसे इण्टरनेट सर्फिंग की आदतें, ब्राउज़िंग हिस्ट्री, पसन्दगी-नापसन्दगी, कॉल आदि व्यक्तिगत सूचनाओं को इकट्ठा कर मनमर्ज़ी तरीके से इस्तेमाल किया जा सकता है। स्पाइवेयर उपयोगकर्ता की गैर-जानकारी में और फ़ोन बन्द होने की स्थिति में भी कैमरा ऑन कर फोटो और वीडियो ले सकता है, माइक्रोफ़ोन के ज़रिये बातचीत को रिकॉर्ड कर सकता है, लोकेशन ट्रेस कर सकता है। मतलब स्पाइवेयर के ज़रिये आपकी हर एक गतिविधि पर आपके चाहे बगैर कोई निगरानी कर सकता है और आपको भनक तक नहीं लगेगी। फ़ोन या सिस्टम में स्पाइवेयर की उपस्थिति आम तौर पर उपयोगकर्ताओं से छिपी रहती है। लेकिन अब तक के ज्ञात लगभग सभी स्पाइवेयर (फिंशफिशर, पैकेज़शेपर आदि) आम तौर पर कम्प्यूटर, फ़ोन और इण्टरनेट आदि की स्पीड धीमी कर देते हैं। डिवाइस की बैटरी तेज़ी से डिस्चार्ज होने लगती है लेकिन

पेगासस स्पाइवेयर की खास बात यह है कि-

1. यह सिस्टम या स्मार्टफ़ोन के स्पीड को धीमा नहीं करता है और बैटरी भी तेज़ी से डिस्चार्ज नहीं होती, जिससे उपयोगकर्ता को इसके अटैक का अन्दाज़ा भी नहीं हो पाता है।

2. अन्य सभी स्पाइवेयर को किसी दूसरे सिस्टम या स्मार्टफ़ोन में इंस्टाल करने के लिए भेजे गये लिंक पर क्लिक न होने की स्थिति में यह इंस्टाल नहीं किया जा सकता है लेकिन पेगासस स्पाइवेयर 'ज़ीरो क्लिक टेक' पर काम करता है। पेगासस स्पाइवेयर को इंस्टाल करने के लिए उपयोगकर्ता द्वारा किसी भी क्लिक की कोई ज़रूरत नहीं है। एक व्हाट्सऐप सन्देश या ईमेल या मिस्ड कॉल के ज़रिये ये टार्गेट सिस्टम में इंस्टाल हो जाता है।

3. पेगासस स्पाइवेयर में ख़ुद को ख़त्म कर लेने (self destruction) की क्षमता है। किसी टार्गेट डिवाइस में प्लाण्ट पेगासस ज़रूरी सूचना लेने के बाद यह ख़ुद ही ख़त्म हो जाता है या फिर कमाण्ड सेण्टर से सम्पर्क टूट जाने पर भी यह स्पाइवेयर ख़ुद-ब-ख़ुद ख़त्म हो जाता है। मतलब साफ़ है कि फोरेंसिक जाँच में भी इसके ज़रिये होने वाली जासूसी को पकड़ पाना बहुत मुश्किल है।

4. दुनिया भर में आज के समय में लगभग सभी लोग android और ios प्लेफॉर्म इस्तेमाल करते हैं। पहले इस तरह के ख़तरों से ios को सुरक्षित माना जाता था लेकिन इस स्पाइवेयर ने एप्पल के इस दावे की धज्जियाँ उड़ा दी है। पेगासस हर प्लेटफॉर्म पर काम करता है और इसीलिए दुनिया का हर व्यक्ति इसकी ज़द में है।

5. पेगासस स्पाइवेयर डिवाइस पर अपना पूर्ण आधिपत्य क़ायम कर लेता है जैसे व्हाट्सऐप, सिग्नल, टेलीग्राम सन्देश या कॉल कहने के लिए 'एण्ड टू एण्ड एनक्रिप्टेड' होता है (हालाँकि ऐसे मामले भी आ चुके है जब इसमें भी घुसपैठ हो चुकी है)। मतलब यह कि सन्देश भेजने वाले और पाने वाले के बीच कोई तीसरा इसको नहीं पढ़ सकता है। लेकिन यह बात पेगासस के लिए सही नहीं है। एक बार पेगासस का अटैक होने के बाद कण्ट्रोल सेण्टर पर बैठा व्यक्ति उपयोगकर्ता के फ़ोन से जो चाहे पढ़ सकता है, रिकॉर्ड कर सकता है, मनचाही चीज़ उपयोगकर्ता के फ़ोन में डाल सकता है और किसी डेटा को इण्टरसेप्ट कर सकता है। यानी पेगासस उपयोगकर्ता से ज़्यादा डिवाइस को कण्ट्रोल करने लगता है और उपयोगकर्ता को इसकी भनक तक नहीं लगती।

इन्हीं वजहों से पेगासस स्पाइवेयर को अब तक का सबसे उन्नत और सबसे ख़तरनाक जासूसी स्पाइवेयर माना जा रहा है। पेगासस स्पाइवेयर को विकसित करनेव वाली टेक फ़र्म एन.एस.ओ. सीधे इज़रायली ख़ुफिया विभाग की देख-रेख में काम करती है। एन.एस.ओ. का दावा है कि वह पेगासस केवल सरकारों को बेचतीं है, इसे किसी निजी व्यक्तियों या संस्थाओ को नहीं दिया जाता है। भारत, यूएई, बहरीन, सऊदी अरब, कज़ाखिस्तान, मेक्सिको, मोरक्को, अज़रबैजान सहित दुनिया के 50 देश इस स्पाइवेयर के ग्राहक हैं। लगभग इन सभी देशों में निरंकुश सत्ता है। पेगासस प्रोजेक्ट के इस खुलासे से पूरी तरह साफ़ हो गया है कि इसका इस्तेमाल सरकार द्वारा अपने ही देश के नागरिकों, बुद्धिजीवियों और सरकार के ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ की जासूसी और दमन के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। हमारे देश की फ़ासिस्ट मोदी सरकार सुरक्षा के नाम पर जनता को संगठित करने वालों के बारे में सबकुछ जान लेना चाहती है। समय-समय पर सत्ता के ख़िलाफ़ उठने वाले जनआन्दोलनों से बौखलायी फ़ासीवादी सत्ता का काम यहाँ के लोकल इण्टेलिजेंस से लेकर केन्द्रीय इण्टेलिजेंस और रॉ जैसी खुफिया एजेन्सी तथा गाँवों-मोहल्ले-कस्बों-शहरों में इनके करोड़ों फ़ासिस्ट कैडरों से नहीं चल पा रहा है इसीलिए पेगासस जैसे स्पाइवेयर पर लाखों-करोड़ों खर्च किये जा रहे हैं। 2016 में पेगासस के ज़रिये 10 लोगों की जासूसी का खर्च 9 करोड़ था। इसके अलावा क़रीब 4.84 करोड़ 10 फ़ोन को हैक करने और 3.75 करोड़ प्रति व्यक्ति सॉफ्टवेयर इंस्टालेशन का खर्च था। इस हिसाब से 2016 में मोदी सरकार ने अपने 300 नागरिकों की जासूसी के लिए लगभग 2700 करोड़ खर्च किया। पेगासस स्पाइवेयर का भारत में सरकार कब से इस्तेमाल कर रही है, इसकी कोई पुख़्ता जानकारी अब तक नहीं है। लेकिन 2016 में हुए खुलासे से ही मानें तो केवल जासूसी पर यह सरकार लगभग 1.5 लाख करोड़ रुपए स्वाहा कर चुकी है।

पेगासस जासूसी को मोदी सरकार न तो पूरी तरह नकार रही है और न ही स्वीकार कर रही है क्योंकि दोनों ही स्थितियों में मोदी सरकार फँस जायेगी। अगर सरकार नकार रही है तो सवाल खड़ा होगा कि जासूसी किसने करवायी क्योंकि एन.एस.ओ. तो स्पाइवेयर केवल सरकारों को बेचती है और अगर मान लेती है तो मोदी सरकार की पूरे देश में छीछालेदर हो जायेगी। इसलिए सरकार केवल इतना कहकर पतली गली से निकल जाना चाहती है कि उसने कोई अवैध इण्टरसेप्शन नहीं किया है। बल्कि उसने जो किया है, क़ानूनसम्मत तरीक़े से किया है। पेगासस जासूसी का मामला 2017-2019 के बीच का है और इसी दौरान मोदी सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद सचिवालय (एनएससीएस) के बजट में क़रीब 10 बार बढ़ोत्तरी की, और इस अवधि में एनएससीएस का बजट आवण्टन 33.17 करोड़ रुपये से बढकर 333.58 करोड़ रुपये हो गया।

पेगासस स्पाइवेयर के ज़रिये जासूसी की जानकारी दुनिया को पहली बार 2016 में यूएई के मानवाधिकार कार्यकर्ता अहमद मंसूर को मिल रहे सन्दिग्ध सन्देशों का टोरण्टो विश्वविद्यालय के सिटीजन लैब के जानकारों और साइबर सुरक्षा फ़र्म लुकआउट की मदद से की गयी जाँच के बाद हुयी। उसके बाद हर साल साइबर जासूसी का मामला सामने आता रहा है। अभी कुछ सालों पहले ही व्हाट्सऐप ने ख़ुद दुनियाभर के लाखों उपभोक्ताओं के ख़िलाफ़ पेगासस स्पाइवेयर के साइबर अटैक की जानकारी दी थी।

### भारत में क़ानूनी और गैर क़ानूनी सरकारी जासूसी कोई नयी बात नहीं!

भारत में सरकार द्वारा अपने ही नागरिकों की जासूसी कोई नयी बात नहीं है बल्कि एक हद तक तो भारत का संविधान और क़ानून भी सरकारों को यह अधिकार प्रदान करता है। औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी सत्ता द्वारा भारतीयों की जासूसी के लिए बनाये गये भारतीय टेलीग्राफ अधिनियम-1885 की धारा 5(2) आज़ादी के बाद नेहरू के नेतृत्व में सत्तासीन भारतीय पूँजीपति वर्ग ने जस का तस अपना लिया। जिसके तहत केन्द्र

और राज्य सरकार को आपातकाल में या लोक सुरक्षा के हित में फ़ोन सन्देश को प्रतिबन्धित करने, टेप करने और निगरानी रखने का अधिकार है। इसके लिए गृह मन्त्रालय से पूर्व इजाज़त लेने का प्रावधान है। लेकिन इस अधिनियम में लोक सुरक्षा का कोई मानक नहीं तय है। ज़ाहिरा तौर पर जिसकी सरकार होती है, गृह मन्त्रालय भी उसी की मुट्ठी में होता है। इसलिए सरकारें आज़ादी के बाद से ही लोक सुरक्षा के नाम पर सत्ता सुरक्षा के लिए अपने राजनीतिक विरोधियों, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं आदि को इसका निशाना बनाती रही हैं। सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा-69 केन्द्र सरकार, राज्य सरकार और केन्द्र सरकार की 10 एजेंसियों (आईबी, एनआईए, सीबीआई, रॉ, एनसीबी, केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड, प्रवर्तक निदेशालय, राजस्व खुफिया निदेशालय, सिग्नल इण्टेलिजेंस निदेशालय और पुलिस आयुक्त, दिल्ली) को किसी भी कम्प्यूटर में बनाये गए,रखे गए, भेजे गये या प्राप्त किये गये किसी प्रकार के डेटा को इण्टरसेप्ट, मॉनिटर या डिसक्रिप्ट करने का अधिकार देती है। इस क़ानून के इस्तेमाल के लिए कुछ शर्तें भी हैं, लेकिन भारत के हर क़ानून की तरह ही ये शर्तें भी इतनी अस्पष्ट हैं कि सरकारों के पास ये क़ानूनी अधिकार अपने ख़िलाफ़ और दूरगामी तौर पर मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ उठने वाली आवाज़ों के दमन का औज़ार बन जाती है। इस तरह भारत में नागरिकों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की जासूसी के लिए क़ानूनी मान्यता मिली हुई है। इन क़ानूनी हथकण्डों के अलावा भी राज्यसत्ता जासूसी के लिए तमाम गैरक़ानूनी तरीके भी अपनाती रही है। इण्डियन एक्सप्रेस द्वारा आरटीआई से प्राप्त की गयी सूचना के अनुसार गृह मन्त्रालय 2012 में हर रोज़ औसतन 250-300 फ़ोन के इण्टरसेप्शन की अनुमति दे रहा था। गृह सचिव के लिए यह सम्भव ही नहीं है कि एक दिन में इतनी बड़ी संख्या की जाँच कर पाये। ऐसे में बिना किसी जाँच पड़ताल के लोगों के फ़ोन का इण्टरसेप्शन धड़ल्ले से होता रहा है। याद रहे की यह सब कांग्रेस के शासन काल में भी हो रहा था। फ़ासीवादी भाजपा के शासन में यह पहले से भी कई गुना बढ़ चुका है।

सरकार द्वारा निजता के मौलिक अधिकार की धज्जियां उड़ाते हुए लोगों की जासूसी क़ानूनी और गैरक़ानूनी तरीके से करती ही रहती है, लेकिन इसके अलावा भाजपा सरकार ने कॉम्प्रिहेंसिव मॉनटरिंग सिस्टम, नेटग्रेड, नेत्र और इस जैसे तमाम सिस्टम ईज़ाद कर इण्टरनेट के ज़रिये बड़ी संख्या में लोगों की पसन्दगी-नापसन्दगी, आदतों, ज़रूरतों आदि का डेटा इकठ्ठा करने के लिए ख़ुद का निगरानी तन्त्र विकसित कर चुकी है। आज कल हर मोबाइल एप्लिकेशन कैमरा, माइक्रोफ़ोन, सम्पर्क सूची, लोकेशन से लेकर फोटो, वीडियो आदि की जासूसी की अनुमति इंस्टालेशन के समय ही ले लेती है, हर वेबसाइट बेहतर अनुभव के नाम पर कुकी पढ़ने की अनुमति ले लेती है। सूचना-प्रसारण के क्षेत्र में हो रहे विकास से दुनिया के स्तर पर 'ग्लोबल सर्विलान्स कैपिटलिज़्म' का पूरा तन्त्र खड़ा हो चुका है जो एक तरफ पूँजीवादी बाज़ार की सेवा में लगा हुआ है तो दूसरी ओर यह राज्यसत्ता के लिए बड़े पैमाने पर लोगों पर निगरानी क़ायम करने और पूँजीवादी राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को कैद करने का साधन बन चुका है। ये पूरा तन्त्र न केवल बाज़ार के हितों की निगरानी करता है बल्कि यह बाज़ार के सांस्कृतिक अनुकूलन का माध्यम भी है। जिसका इस्तेमाल ये कम्पनियाँ लोगों की क्षमता, रुचि आदि का ध्यान रखकर अपने उत्पादों का प्रचार करती हैं। ग्लोबल सर्विलान्स कैपिटलिज़्म के इस जमाने में डेटा की ख़रीद-फ़रोख्त का एक पूरा बाज़ार विकसित हो चुका है। केवल डेटा इकठ्ठा और डेटा को श्रेणीबद्ध करने में बहुत सी कम्पनियाँ लगी हुई है। इन कम्पनियों से सरकारें डेटा ख़रीद कर चुनाव प्रचार में इस्तेमाल करती है (जिसका भण्डाफोड़ कैमब्रिज एनालिटिका के मसले में हो चुका है) और निजी कम्पनियाँ अपने उत्पाद को बेचने के मक़सद से।

अब सवाल यह खड़ा होता है कि जब निगरानी का इतना विशाल तन्त्र पूरी दुनिया के स्तर पर खड़ा है और अपनी ज़रूरतों के हिसाब से दुनिया भर की सरकारें और बाज़ार के मद्देनज़र बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से लेकर देशी कम्पनियाँ इसका इस्तेमाल करती रही हैं तो अचानक पेगासस जासूसी मामले का इतना शोर क्यों है? ऐसा इसलिए क्योंकि इस घटना से पूँजीवादी लुटेरों के बीच की आपसी अन्तरविरोध से पर्दा उठ गया है और पूँजीवादी व्यवस्था की नंगई जगज़ाहिर हो गयी है। पूँजीवादी व्यवस्था कोई एकाश्मी व्यवस्था नहीं है। इसमे पूँजीपतियों और इनके विभिन्न गुटों के बीच आर्थिक हितों को लेकर लगातार टकराहट की स्थिति बनी रहती है। पूँजीवादी लुटेरों के बीच यह आर्थिक अन्तरविरोध राजनीतिक तौर पर इनका प्रतिनिधित्व करने वाली तमाम पूँजीवादी पार्टियों और एक पार्टी की भीतर के विभिन्न धड़ों के आपसी अन्तरविरोध के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। पेगासस जासूसी मामले में यह अन्तरविरोध स्पष्ट रूप में खुल कर सामने आ गया है और इसीलिए इसका इतना शोर है। भारत सहित पूरी दुनिया में पेगासस का निशाना ज़्यादातर पत्रकार, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता आदि जनपक्षधर लोग बनाये गये लेकिन साथ ही साथ इस बार जासूसी की जद में विपक्षी पार्टियों के नेता (राहुल और प्रियंका गाँधी) और यहाँ तक की सत्ताधारी पार्टी के दूसरे धड़े के नेता (अश्वनी वैष्णव, प्रह्लाद पटेल), वो नौकरशाह जो सरकार की हाँ में हाँ नहीं मिलाते है, भी आ गये हैं। इस प्रकार पेगासस प्रोजेक्ट के खुलासे से पूँजीवादी राज्यसत्ता और पूँजीपतियों के विभिन्न धड़ों और फ़ासीवादी भाजपा के भीतर के विभिन्न गुटों के आपसी अन्तरविरोध सामने आने लगे। वहीं दूसरी ओर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच का अन्तरविरोध भी फूट पड़ा है। पेगासस स्पाइवेयर के ज़रिये फ़्रांस के राष्ट्रपति के फ़ोन की जासूसी से फ़्रांस का बुर्जुआ वर्ग नाराज़ है। इस खुलासे के बाद एक बार फिर राफेल की फ़ाइल खुल गयी है। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पूँजीपति वर्ग के आपसी अन्तरविरोध भड़क उठने की वजह से पेगासस का मसला इतना उछाल पर है।

अगर मसला राज्यसत्ता बनाम नागरिक हितों के लिए लड़ने वाले राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं का होता तो मुद्दा इतना तूल नहीं पकड़ता। 'आर्सेनल' की भीमा कोरेगाँव मामले पर आई तीन रिपोर्टों से इसे समझा जा सकता है। यह रिपोर्ट साफ़-साफ़ बताती है कि भीमा कोरेगाँव केस में यूएपीए के तहत जेल में बन्द रोना विल्सन और सुरेन्द्र गाडगिल के कम्प्यूटर में **(शेष पेज 20 पर)**

सामयिकी

# छात्रों-युवाओं में बढ़ती आत्महत्या की प्रवृत्ति का ज़िम्मेदार कौन है?

**शिवा**

कहीं नहीं है कहीं भी नहीं लहू का सुराग़
न दस्त-ओ-नाख़ुन-ए-कातिल न आस्तीं पे निशाँ
न सुर्ख़ी-ए-लब-ए-ख़ंजर न रंग-ए-नोक-ए-सिनाँ
न ख़ाक पर कोई धब्बा न बाम पर कोई दाग़
कहीं नहीं है कहीं भी नहीं लहू का सुराग़

-फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

पूरे देश में छात्रों-युवाओं में बढ़ती आत्महत्याएँ विकराल रूप लेती जा रही है। छात्रों का हब कहे जाने वाले शहर अब आत्महत्याओं के हब बन गये है। भविष्य की अनिश्चितता से हताश, निराश छात्र आज ज़िन्दगी के बजाय मौत को चुनने के लिये मजबूर हैं। ये वे हत्याएँ हैं जिनका न कोई सुराग़ है, न ही सुनवाई। बीते जुलाई के महीने में केवल 28 दिनों में अकेले इलाहाबाद में 25 से ज़्यादा छात्रों-युवाओं की आत्महत्या की ख़बर सामने आयी। ये वे घटनाएँ है जो मीडिया के लिए ख़बर बनी और पुलिस स्टेशन तक पँहुची। इससे कई गुना ज़्यादा घटनाएँ ऐसी हैं जो मीडिया तक पहुँच ही नहीं पाती हैं। वर्ष 2018 में औसतन 35 बेरोज़गारों और 36 स्वरोज़गार करने वाले लोगों ने हर रोज़ आत्महत्या की है। एनसीआरबी के आँकड़ों के मुताबिक़ साल 2017 में 1,29,887 लोगों ने, वर्ष 2018 में कुल 1,34,516 लोंगो ने और साल 2019 में 1,39,123 लोगों ने ख़ुदकुशी की। सरकारी आँकड़ों से स्पष्ट है कि देश में आत्महत्या की दर लगातार बढ़ती जा रही है।

सबसे परेशान करने वाली बात यह है कि छात्रों-युवाओं में आत्महत्या की प्रवृत्ति बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। 2018 (जिसमें 89,407 युवाओं ने आत्महत्या की) की तुलना में 2019 (जिसमें 93,061 ने आत्महत्या की) में जहाँ कुल आत्महत्या की दर में बढ़ोत्तरी 3.4 प्रतिशत है, वहीं नौजवानों में यह दर 4 प्रतिशत से ज़्यादा है। पूरी दुनिया की लगभग 18 प्रतिशत आबादी भारत में रहती है लेकिन विश्व में होने वाली कुल आत्महत्याओं में से एक तिहाई से ज़्यादा केवल भारत में ही होती है। इतने बड़े पैमाने पर आत्महत्याएँ! ये महज़ संख्याएँ नहीं हैं बल्कि उस देश की एक जीती-जागती तस्वीर है जिसे दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र होने का तमगा मिला है। जहाँ की 65 प्रतिशत आबादी युवा है। वहाँ पर इतने बड़े पैमाने पर सम्भावनाओं का विनाश हो रहा है, और जिसकी कहीं कोई सुनवाई नहीं! क्यों? क्योंकि इस लुटेरी मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था को मुनाफ़े से सरोकार है सम्भावनाओं से नहीं!

भारत में निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है। जिसे लगता है कि वह हर सुविधा को पैसे के दम पर ख़रीद सकता हैं और इसलिए यह वर्ग बाज़ार व्यवस्था का खुले रूप में पैरोकारी करता है। यह वर्ग अपने वर्गीय स्थिति की वजह से ही घोर मानवद्रोही, जनविरोधी बन चुका है। जिसमें जनवादी चेतना और तर्कणा का नितान्त अभाव है। इस वर्ग के लिए इस व्यवस्था में ख़रीदने की क्षमता से रिक्त जो बड़ी आबादी है, वह नालायक और कामचोर है। इन नवधनाढ्यों के लिए मेहनतकश वर्ग केवल उत्पादन के अंग-उपांग हैं। आम आबादी से ऐतिहासिक विश्वासघात कर चुकी भारतीय मध्यवर्ग की तर्क पद्धति इतनी जन विरोधी और व्यवस्था पूजक बन चुकी है कि वो हर घटना पर व्यवस्था और सत्ता के बचाव में नयी-नयी दलीलें पेश करते हुए जनता को ही दोषी ठहरा देता है। खाये-पिये मध्यवर्ग के इस हिस्से को लगता है कि छात्र-नौजवान ही कायर हैं, इसलिए आत्महत्या कर लेते हैं।

क्या वाकई ऐसा है? नहीं! इतने बड़े पैमाने पर आत्महत्याएँ महज़ कायर होने की वजह से नहीं हो सकतीं। ऐसा सोचने वाले लोगों के समक्ष सच्चाई पर वर्गीय स्थिति का पर्दा होता है इसलिए वो उस पूरी प्रकिया से आँख मूँद लेते है जिससे गुजर कर एक नौजवान ऐसा क़दम उठाने को मज़बूर होता है। आमतौर पर 12वीं पास करते ही एक छात्र पर घर-परिवार और समाज का दबाव काम करने लगता है कि उसे एक नौकरी पा ही जाना है वह कोशिश करता है, जी-तोड़ मेहनत करता है। लेकिन सालों साल लगा देने के बाद भी उसके हिस्से में केवल हताशा और निराशा आती है। सरकारी विभागों में नौकरियाँ ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर हैं, स्थिति इतनी विकट है कि 1 सीट के लिए औसतन 5000 फार्म पड़ते हैं। आप कितनी भी मेहनत कर लें एक सीट पर तो केवल एक व्यक्ति को ही नौकरी मिलेगी। अभी कुछ दिन पहले उत्तर-प्रदेश के मुख्यमन्त्री का हास्यास्पद बयान आया था कि उत्तर प्रदेश में नौकरी की कोई कमी नहीं है बल्कि योग्य लोग ही नहीं है। जबकि यहीं उत्तर-प्रदेश में वर्ष 2018 में पुलिस विभाग के चपरासियों व सन्देशवाहकों के 62 पदों के लिए 93000 अभ्यर्थियों ने आवेदन किया जिनमें से 3700 पीएचडी थे 28000 स्नातकोत्तर और 50,000 स्नातक थे जबकि योग्यता पाँचवीं कक्षा पास होना रखी गयी थी।। शिक्षण संस्थानों द्वारा एक तरफ़ तो छात्रों को बीए, एमए, बीटेक, एमटेक आदि की डिग्री मिलती है वहीं दूसरी तरफ़ अगर आप किसी तरह एक नौकरी नहीं हासिल कर पाये तो आपको अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। इस पूरी स्थिति से परेशान देश की एक बड़ी युवा आबादी अवसाद में जीने को मजबूर है। परिवार का भी माहौल हमारे समाज में इतना जनवादी नहीं होता एक छात्र अपनी मन:स्थिति डिस्कस कर सके और यहाँ से लेकर शिक्षण सस्थानों तक ऐसा कोई मंच नहीं होता जहाँ वह अपना दिल खोलकर रख सके। नतीजतन इस पूरे मकड़जाल से निकलने का कोई और रास्ता न पाकर बहुत से छात्र ख़ुद को ख़त्म कर लेते है। क्या इसे आप कायर होने की वजह से आत्महत्या करना कह सकते है? इस तरह के तर्क समाज में जानबूझकर इस लुटेरी मानवद्रोही व्यवस्था के ख़ूनी चेहरे को छिपाने के लिए गढ़े जाते हैं। लोग समस्याओं का कारण व्यक्तियों

में खोजें इस पूँजीवादी व्यवस्था में नहीं। यह कोई एक या दो जगह की बात नहीं है आज शिक्षण संस्थानों में यह बीमारी दीमक की तरह फ़ैल रही है।

### छात्रों की कब्रगाह बनते शिक्षण संस्थान

राजस्थान का कोटा शहर कोचिंग का सुपर मार्केट कहा जाने लगा है। यहाँ तैयारी करने के नाम पर छात्रों से ज़बरदस्त लूट जारी है। एक अध्ययन के अनुसार कोटा में कोचिंग का सालाना टर्न ओवर 4000 करोड़ से ज़्यादा का है। कोचिंग सेण्टरों से सरकार अनुमानत: सालाना 100 करोड़ रुपये से अधिक टैक्स वसूलती है। विज्ञापनों, मीडिया और सामाजिक स्टेटस के दबाव के ज़रिये जो सपने छात्रों-नौजवानों के ऊपर ज़बरदस्ती थोप दिये जाते हैं उसे पूरा करने का खयाल पाले छात्र इस शहर की तरफ़ कूच करते हैं। सपने बेचे जातें है करोड़ों छात्रों को लेकिन सपने पूरे होते है कुछ चन्द हज़ार छात्रों के। इसलिए यह शहर आत्महत्याओं का गढ़ बनता जा रहा है। यहाँ 2019 के दिसम्बर महीने में चार छात्रों ने आत्महत्या की। कोटा पुलिस के अनुसार साल 2018 में 19, 2017 में 7, 2016 में 18, 2015 में 31, 2014 में 45, छात्रों ने आत्महत्या की। इसी तरह इलाहाबाद, पटना, जयपुर, मुम्बई, मद्रास आदि शहरों की भी स्थिति बेहद गम्भीर है, इन सभी छात्र बहुल शहरों में हर साल हजारों छात्र आत्महत्या कर लेते है। चार साल पहले आत्महत्या करने वाली छात्रा कीर्ति ने अपने सुसाइड नोट में मानव संसाधन विकास मन्त्रालय से इन संस्थानों को जल्द से जल्द बन्द करने की गुहार लगायी थी। उसने लिखा कि ये कोचिंग संस्थान छात्रों को तनाव दे रहे है। यही नहीं अब अवसाद से वो छात्र भी पीछा नहीं छुड़ा पा रहे है जो इस व्यवस्था के मान्य धारणाओं के हिसाब से सफल हो गये हैं। आईआईटी मुम्बई की छात्रा पायल से लेकर पांच सालों में देश के 23 आईआईटी में 50 से अधिक छात्रों ने आत्महत्या की।

देश का भविष्य कहे जाने वाले युवा आज इतने बड़े पैमाने पर आत्महत्या कर रहे हैं और भाड़े का मीडिया पाकिस्तान को ख़त्म करने और चीन को सबक सिखाने, 'लव जिहाद' 'चूड़ी ज़िहाद' 'धर्मान्तरण' आदि फ़ासीवादी मुद्दे को उठाकर इतना शोर मचा रहा है कि इस शोर में आम जनता के बेटे-बेटियों की मौत की खबर भी आम लोगों के पास नहीं पहुँच रही है। मीडिया आज छात्रों-युवाओं के मुद्दे पर ऐसे ख़ामोश है जैसे देश में सबकुछ अच्छा चल रहा हो। हकीक़त यह है कि यह मीडिया धनपशुओं का है इसलिए यह हमारा आपका साथ नहीं देगा इसका चरित्र भी हमें आम जनता के सामने बेनक़ाब करना होगा और साथ ही हमें वैकल्पिक मीडिया को खड़ा करने के बारे भी सोचना होगा।

### गहरा होता भविष्य का अँधेरा

इन आत्महत्याओं की पड़ताल की जाये तो एक बुनियादी कारण भविष्य की अनिश्चितता है। जब से उदारीकरण निजीकरण की नीतियाँ देश में लागू की गयी है तब से रोज़गार में कटौती जारी है। पिछले कुछ सालों से स्किल इण्डिया, मेक इन इण्डिया, प्रधानमन्त्री रोज़गार सृजन कार्यक्रम, रोज़गार प्रोत्साहन योजना, प्रधानमन्त्री कौशल विकास योजना जैसी तरह-तरह की योजनायें बनायी गयी है और इन योजनाओं के प्रचार में अरबों रूपये खर्च किये गये है लेकिन इन योजनाओं के दफ्तर और प्रचार सम्भालने वाले लोगों को रोज़गार देने के अलावा देश में बेरोज़गारी कम करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है। सीएमआईई की रिपोर्ट में बताया गया है कि पिछले साल मार्च से जुलाई के बीच 1.9 करोड़ वेतनभोगियों की नौकरी चली गयी रेलवे जो देश का सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाला क्षेत्र है उसकी हालत भी बद से बदतर होती जा रही है। भारतीय रेल के कर्मचारियों की संख्या 20 सालों में 18 लाख से घटकर क़रीब 9 लाख रह गयी है। रेलवे में क़रीब सवा 2 लाख पद खाली होने के बाद भी भरे नहीं जा रहें। इतना ही नहीं अभी अप्रैल 2019 में ही 10, 840 पद ख़त्म करने का नोटिफिकेशन जारी किया गया था। इसी तरह से SSC CGL की पिछली 9 भर्तियों में पदों की संख्या घटकर आधे से भी कम रह गयी है। जबकि इस दौरान आवेदकों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई है।

ऐसा नहीं है कि रोज़गार नहीं है या दिया नहीं जा सकता। सवाल सरकारों की मंशा का है, जो कि साफ़ है। लगातार सरकारी विभागों के पदों की संख्या घटायी जा रही है। ज़्यादा से ज़्यादा काम संविदा और ठेके पर कराया जा रहा है और हर विभाग को बेचने की तैयारी हो रही है। प्राइवेट सेक्टर का कोई भरोसा नहीं कब रखा और कब लात मारकर बाहर कर दिया। यह पूरी स्थिति आने वाले समय में इस संकट को और भी गहरा करने वाली है। ऐसे में हम छात्रों-युवाओं का आह्वान करते है कि ख़ुद को ख़त्म करना हल नहीं है आज ज़रूरत है कि इस पूरी लूट और अन्याय पर टिकी इस व्यवस्था के खात्मे के बारे में सोचा जाये।

**पाब्लो नेरुदा के जन्मदिवस 12 जुलाई पर**

## तानाशाह

ईख के खेतों में
एक गन्ध बस गयी है
ख़ून, लाशों और तीखी पत्तियों की मिली-जुली गन्ध
इससे उबकाई आती है
नारियल के बगीचे में
कब्रें भर गयी हैं
छीजती हड्डियों और मौत की बेआवाज़
खड़खड़ाहटों से
सुकुमार तानाशाह बातें करता है
ऊँचे हैटों, सोने के तमगों
और ऊँचे कॉलर वाले लोगों से
घड़ी की तरह चमकता है उसका छोटा सा महल
और दस्ताने पहने लोग बार-बार ठहाके लगाते हैं
तथा मरी हुई आवाज़ों
और ताज़ा दफ़न नीले चेहरों में
शामिल हो जाते हैं
दु:ख को देखा नहीं जा सकता
उस पौधे के बीजों की तरह
जो गिरते ही रहते हैं धरती पर जिसके अँधेरे में डूबे
विशाल पत्ते
रोशनी के बग़ैर भी बढ़ते रहते हैं
घृणा बढ़ती ही जाती है
हर चोट के बाद
दलदल के पीले पानी में
चुपचाप, कीचड़ में सनी

शिक्षा-जगत

# आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन की तानाशाही

**केशव**

बीते दिनों देश के प्रतिष्ठित संस्थान आईआईटी गुवाहाटी में पीएचडी कर रहे दो छात्र हिमांचल और विक्रान्त पर प्रतिरोध करने के "जुर्म" में कार्रवाई की गयी। ये छात्र संस्थान में हो रहे भ्रष्टाचार को उजागर करने के लिए अपना प्रतिरोध दर्ज़ करा रहे थे। इन छात्रों में से विक्रान्त को 29 अक्टूबर 2020 को फ़ेसबुक पोस्ट लिखने की वजह से निलम्बित कर दिया गया था, जिसमें उसने जेईई परीक्षा में होने वाले भ्रष्टाचार पर सवाल उठाया था। वहीं एक धरना प्रदर्शन में शामिल होने के कारण हिमांचल से आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन ने अपने रिसर्च प्रोग्राम को जारी रखने के लिए छः पन्नों के उपक्रम पर हस्ताक्षर कराया था, जिसमें लिखा था कि वह किसी भी प्रकार के प्रतिरोध में शामिल नहीं होगा।

ग़ौरतलब है कि ये छात्र जनवरी 2020 से ही संस्थान में हो रहे भ्रष्टाचार को उजागर करने का प्रयास कर रहे थे, और तब से ही ये छात्र आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन की आँखों में खटक रहे थे। बीते वर्ष जनवरी में इस संस्थान के एक प्रोफ़ेसर बृजेश राय लगातार संस्थान में हो रही धाँधली को बेनक़ाब करने की कोशिश कर रहे थे। संस्थान ने डॉ बृजेश राय पर आरोप लगाया था कि इन्होंने संस्थान से जुड़े प्रोजेक्ट को ग़लत तरीके से मीडिया के माध्यम से पब्लिक कर दिये हैं। दरअसल 2017 में आईआईटी गुवाहाटी में इसरो का एक प्रोजेक्ट आया था जिसके लिए एक छात्र को चुना गया था। लेकिन उस छात्र ने प्रोजेक्ट बीच में ही छोड़ दिया। इसरो फिर उसी प्रोजेक्ट के लिए आईआईटी गुवाहाटी परिसर में दोबारा आयी। इस बार आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन ने बड़ी चालाकी से प्रोजेक्ट के लिए योग्यता को कम कर विज्ञापन निकाल दिया। इसके ख़िलाफ़ डॉ बृजेश राय ने डीन (रिसर्च एण्ड डेवलपमेण्ट और डायरेक्टर) को मेल किया, मगर कोई जवाब नहीं मिला। जवाब न मिलने पर डॉ बृजेश राय ने यही जानकारी इसरो को मेल कर दी। लेकिन इसरो ने भी इसका जवाब नहीं दिया, इसके उलट इसरो ने उस मेल को आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन को फ़ॉरवर्ड कर दिया। इसी को मुद्दा बनाकर आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन ने डॉ बृजेश राय को निलम्बित कर दिया था। जिसके ख़िलाफ़ इन दो छात्रों ने 4 से 7 जनवरी, 2020 तक भूख हड़ताल भी की थी। बाद में इन छात्रों पर 'अनुशासनात्मक कार्रवाई' की गयी थी। विक्रान्त का कहना है कि हड़ताल के बाद उसे संस्थान द्वारा दी जाने वाली छात्रवृत्ति भी रोक दी गयी थी।

इसके बाद जेईई 'टॉपर' के परीक्षा में धाँधली करने के जुर्म में गिरफ़्तार होने की ख़बर के बाद 29 अक्टूबर, 2020 को विक्रान्त ने अपने फ़ेसबुक आइडी पर जेईई परीक्षा में होने वाली धाँधली के बारे में लिखा था। जिसके कारण विक्रान्त को एक सेमेस्टेर 10 मार्च, 2021 से 27 जुलाई, 2021 तक निलम्बित कर दिया गया था। इसके बाद विक्रान्त ने अपने सोशल मीडिया अकाउण्ट पर तमाम स्क्रीनशॉट शेयर किये जो आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन को कटघरे में खड़ा करता है। लेकिन इसके बरक्स आईआईटी गुवाहाटी प्रशासन ने जून के अन्त में विक्रान्त के नाम निलम्बन पत्र जारी कर दिया।

यह कोई पहली घटना नहीं है जब किसी संस्थान ने छात्रों की अभिव्यक्ति की आज़ादी पर हमला किया है। पिछले दिनों लगातार तमाम विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के छात्रों ने जब भी अपने हक़ की आवाज़ उठायी है, तब उन्हें विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा चेतावनी और निष्कासन के साथ-साथ सड़कों पर पुलिस के डण्डों का सामना करना पड़ा है। चाहे जेएनयू के छात्रों के फ़ीस बढ़ोतरी का मुद्दा हो या बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की छात्राओं द्वारा छेड़खानी के ख़िलाफ़ प्रतिरोध करने का मुद्दा हो, हर बार पुलिस और संस्थान प्रशासन की तरफ़ से छात्रों और छात्राओं के जनवादी अधिकारों पर हमला किया जाता है। 2014 में मोदी सरकार के सत्तासीन होने के बाद से इन मामलों में बढ़ोत्तरी ही हुई है। एक तरफ़ पुलिस प्रशासन की बर्बरता प्रतिरोध कर रहे छात्रों और नौजवानों पर तेज़ हो गयी है, वहीं दूसरी तरफ़ तमाम संस्थानों में संघ अपने लोगों की भर्ती कर रहा है। जिसके कारण इन संस्थानों में उच्च पद पर बैठे लोग आज खुलेआम छात्रों के अधिकारों का हनन कर रहे हैं।

हर दौर में फ़ासीवाद कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों को अपना निशाना बनाता है, क्योंकि विश्वविद्यालय छात्रों के लिए जनवादी स्पेस होते हैं, जहाँ वे खुलकर अपनी सहमति व असहमति दर्ज़ करा सकते हैं, जहाँ वे बहस कर सकते हैं, सरकार से लेकर संस्थानों की कार्यप्रणालियों पर सवाल कर सकते हैं। इस जनवादी स्पेस को ख़त्म कर फ़ासीवादी ताक़तें प्रतिरोध के स्वर को दबाने का हर मुमकिन प्रयास करती हैं। ताकि इंसाफ़पसन्द छात्र और नौजवान या तो डरकर चुप हो जायें या फिर उनके पक्ष में हो जायें। आज देशभर में इस जनवादी स्पेस को ख़त्म कर ये लोग इसी काम को अंजाम देने की कोशिश कर रहे हैं।

लेकिन हर दौर में फ़ासीवाद को जनता की ताक़त के आगे मुँह की खानी पड़ी है। जनता की एकजुटता ही असल में इन्हें नाकाम कर सकती है। आज देशभर के तमाम छात्रों और नौजवानों को इन फ़ासीवादी ताक़तों के ख़िलाफ़ ख़ुद को एकजुट करना होगा। उन्हें देश में कहीं भी होने वाले जनवादी अधिकारों पर हमले के ख़िलाफ़ अपना प्रतिरोध दर्ज़ कराना होगा और एक बेहतर समाज बनाने की लड़ाई लड़नी होगी। तभी जाकर फ़ासीवाद से निर्णायक जीत मुमकिन होगी।

•

सामयिकी

# एलओसीएफ़-2021 : उच्च शिक्षा के भगवाकरण और इतिहास के मिथ्याकरण का नया हथियार

**आकाश**

फ़ासीवाद की प्रमुख विशेषता होती है कि वह बहुसंख्यक आबादी पर अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए मिथकों को सहज बोध बनाकर दकियानूसी संस्कृति का वर्चस्व क़ायम करती है। इस वर्चस्व को बनाये रखने के लिए इतिहास का मिथ्याकरण उनका सबसे बड़ा हथियार होता है। भारत के हिन्दुत्ववादी–संघी फ़ासिस्ट पहले से ही यह कोशिश कर रहे हैं, मगर 2014 में मोदी के सत्ता में आने के बाद यह काम बहुत व्यवस्थित तरीके से सांस्थानिक स्तर पर किया जा रहा है। सत्ता में आते ही सरकार ने तमाम शैक्षणिक और अकादमिक संस्थानों के उच्च पदों पर संघ के लोगों को भरना शुरू कर दिया था। 2014 में ही आरएसएस ने 'भारतीय शिक्षा नीति आयोग' बनाया जिसका मक़सद ही शिक्षा का भगवाकरण करना था। इसके बाद संस्थागत तरीके से स्कूली पाठ्यक्रमों की किताबों में साम्प्रदायिक सामग्री परोसकर और इतिहास के विकृतीकरण के ज़रिये हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों द्वारा हमारे बच्चों में साम्प्रदायिक ज़हर भरने की कोशिश जारी है। 'इण्डियन एक्सप्रेस' की एक रिपोर्ट के अनुसार साल 2014 से 18 के बीच नेशनल काउंसिल ऑफ एजुकेशन रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग (एनसीईआरटी) की स्कूली टेक्स्ट की 182 किताबों में से 1334 बदलाव किये जा चुके थे।

उच्च शिक्षा के स्तर पर भी इतिहास का विकृतीकरण किया जा रहा है। नई शिक्षा नीति के द्वारा पहले ही उच्च शिक्षा को भगवा रंग से रंगने का रास्ता खोलने के बाद अब यूजीसी द्वारा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में नये बदलाव किये गये हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्नातक के लिए बनाये गये नए पाठ्यक्रम 'लर्निंग आउटकम्स बेस्ड करिकुलम फ्रेमवर्क (एलओसीएफ़) प्रोग्राम 2021' नाम दिया गया है। देशभर में तमाम विश्वविद्यालयों को इसी पाठ्यक्रम को पढ़ाना होगा। इस पाठ्यक्रम द्वारा संघ के वैचारिक कारखाने से 'इतिहास' को 'मिथ्या' और 'मिथ्या' को 'इतिहास' के उत्पादन की व्यवस्था की गयी है। ज़ाहिर है इसका अर्थ यह है कि इसमें साम्प्रदायिकता और अन्धराष्ट्रवाद की जहरीली घोल परोसी जाने वाली है। इसकी झलक प्रस्तावना की पहली ही पंक्ति में मिल जाती है जिसमें इतिहास को 'राष्ट्र के गौरव को जानने का स्रोत' बताया गया है। आगे पूरे पाठ्यक्रम में हिन्दुत्व का महिमामण्डन और मुस्लिम कम्युनिटी को टारगेट करने पर भरपूर ज़ोर दिया गया है। इतिहास के तथ्यों को आधे-अधूरे या फिर तोड़- मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है। संघ और आईटी सेल द्वारा व्हाट्सएप पर प्रचारित किये जा रहे मिथकों को पाठ्यक्रम में घुसा कर इतिहास बदलने की संघी लंगूरों की कोशिशें साफ़ दिखती है।

प्राचीन भारत के इतिहास को पेपर-III में रखा गया है। इसे ग़ौर से देखने पर साफ़ पता चलता है कि इसमें कई चीज़ें गीता प्रेस की किताबों से सीधी उठा ली गयी हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता को 'सिन्धु सरस्वती की सभ्यता' का नाम दिया गया है। इसके पीछे का उद्देश्य हड़प्पा संस्कृति को ज़बरदस्ती वैदिक संस्कृति से जोड़ना है। इसके साथ ही इससे यह तथ्य भी ख़ारिज हो जाता है कि पुरातात्विक प्रमाणों में हड़प्पा संस्कृति और द्रविड़ियन संस्कृति के बीच लिंक (सम्बन्ध) मिलते हैं। साथ ही इस पेपर की दूसरी इकाई में आर्यों के भारत आगमन और आक्रमण को मिथक बताया गया है। साफ़ ज़ाहिर है इससे भगवा गिरोह आर्यों को यहाँ के मूलनिवासी बताकर मुस्लिमों के ख़िलाफ़ ज़हर बोना चाहता है। आज पुरातात्विक प्रमाणों से यह साबित हो चुका है कि आर्य 1500 ईसा पूर्व के आसपास उत्तर पश्चिमी पहाड़ियों के रास्ते पहले पंजाब के आसपास के क्षेत्रों में और बाद में गंगा के मैदानी क्षेत्रों में आए।

इसी पेपर में अन्य अध्याय कुछ इस तरह हैं — 'एपिक लिटरेचर एण्ड कल्चर', 'महाजनपद रिपब्लिक एण्ड ग्रोथ ऑफ़ अर्बन सेण्टर्स' आदि। संघ सालों से यह कोशिश करता रहा है कि रामायण, महाभारत आदि की मिथक कहानियों को इतिहास का हिस्सा बना सके। आज यह वैज्ञानिक ऐतिहासिक तथ्यों को झुठला कर यह काम कर रही है। 'महाजनपदों' की बात करें तो सबसे पहली बात यही है कि जिसे संघी बिग्रेड 'रिपब्लिक' यानी कि जनतन्त्र कह रहे हैं वह कुलीन तन्त्र था, जहाँ कुछ वंशों को ही राज करने का अधिकार प्राप्त था, बहुत बड़ी आबादी को कोई जनतान्त्रिक अधिकार था ही नहीं। दूसरी बात यह कि महाजनपद का एक हिस्सा जिसे जनतन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है असल में उसे 'गणतन्त्र' कहा जाता था। अपनी तमाम समस्याओं के बावजूद वह ख़ुद वैदिक रूढ़िवादिता का विरोध करता था जिसे आज भी ब्राह्मणवादी स्थापित करने में लगे हैं।

इसके अलावा जो सबसे ज़रूरी बात प्राचीन भारत के इतिहास से ग़ायब है वह है- वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था एवं उसका उद्गम। यह बात इतिहास का कोई नौसिखिया भी जानता है कि भारत के प्राचीन इतिहास में सामाजिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को समझने के लिए उस समय के वर्ण और जाति व्यवस्था को समझना बहुत ज़रूरी है। जाति का सन्दर्भ मध्यकालीन भारत के इतिहास (पेपर-VII) के चौथी इकाई में आता है। पेपर VII में 1206 ईसवी से 1707 ईसवी तक के इतिहास की बात की गयी है। इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे जाति व्यवस्था कल की ही बात हो।

पेपर-V में ब्राह्मणवादी मूल्यों और साम्प्रदायिकता की और भी बदबूदार चाशनी बनायी गयी है। 'राजपूतों' के प्रति ख़ास चिन्ता दिखती है। राजपूतों के उद्भव और पतन पर ख़ास ज़ोर दिया गया है। राजपूतों के पतन के बाद मुस्लिम शासकों के आक्रमण का भारत पर प्रभाव को अगले अध्यायों में शामिल किया गया है। ठीक इसी तरह पेपर-VII में मध्यकालीन भारत के इतिहास को हिन्दू शासकों और मुस्लिम शासकों एवं हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति में बाँटा गया है। यहाँ भी राजपूत राज्यों की अलग से चर्चा की गयी है। इसके साथ ही मुगलकालीन इतिहास के बड़े हिस्से को ग़ायब कर दिया गया है। ज़ाहिर है यहाँ सरकार राजपूतों की शान की कसीदे पढ़ कर हिन्दुत्व की श्रेष्ठता और मुस्लिमों के प्रति नफ़रत को आनेवाली पीढ़ियों के दिमाग में स्थापित करना चाहती है।

पेपर-IX में सन् 1707-1857 ईसवी तक के इतिहास को शामिल किया गया है। 1707 वह साल था जब औरंगजेब की मृत्यु हुई थी। कहने की ज़रूरत नहीं कि भारतीय जनता पार्टी के नेताओं द्वारा औरंगजेब को लेकर बार-बार ऐतिहासिक तथ्यों को झुठलाने की कोशिश की जाती है। इतिहास के अध्ययन और अध्यापन में कालखण्डों के बँटवारे का भी बहुत महत्त्व होता है। वैसे तो पहले के भी कोर्स में कालखण्डों के बँटवारे, ऐतिहासिक परिघटनाओं और उनके कार्य-कारण सम्बन्धों को बहुत सही तरीके से नहीं रखा गया था, मगर इस बार मनोगत तौर से पेश किया गया है। मिसाल के लिए 1757 की प्लासी का युद्ध एक प्रमुख परिघटना मानी जा सकती है, जिसके बाद यहाँ अंग्रेज़ों का उभार होता है और भारत का इतिहास एक नये दौर में प्रवेश करता है। जबकि इस पाठ्यक्रम में इसे उपरोक्त कालखण्ड के बीच में रखा गया है।

पेपर-X में 1857 से 1947 तक के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को जगह दी गयी है। यह एक ऐसा कालखण्ड है जिसके तथ्यों और साक्ष्यों से भगवा बिग्रेड सबसे ज़्यादा डरती है। इसका कारण यह है कि इसी कालखण्ड में संघ और इनके गुरुओं ने देश के साथ ग़द्दारी करते हुए क्रान्तिकारियों की मुखबिरी की थी और अंग्रेज़ों को माफ़ीनामे लिखे थे। संघ की फ़ासिस्ट विचारधारा का जन्म भी इसी कालखण्ड में हुआ था। यही कारण है कि इस पेपर में 'राष्ट्रवाद' पर बहुत ज़ोर दिया गया है। इसके साथ ही इसी कालखण्ड में घटित कई घटनाओं का ज़िक्र तक नहीं है। चापेकर बन्धुओं से लेकर भगत सिंह की क्रान्तिकारी धारा और इसके वैचारिक विकास का समय भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में एक ज़रूरी स्थान रखता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन, भगत सिंह का ट्रायल और वाम उभार को एक ही शीर्षक में समेट दिया गया है।

ठीक इसी प्रकार पेपर-XI आज़ादी के बाद के भारत की बात करता है। लेकिन इसमें आज़ादी के तुरन्त बाद की और अब तक की सबसे बड़ी त्रासदी 1947-48 के साम्प्रदायिक दंगे और उसके इतिहास का कोई ज़िक्र तक नहीं है। साथ ही धर्म निरपेक्षता पर कोई अध्याय नहीं है। जबकि एक अध्याय में भारत की परिभाषा 'एक शाश्वत राष्ट्र' के रूप में स्थापित की गयी है। अगले पेपर में भारत की सांस्कृतिक विरासत के नाम पर त्योहारों के धार्मिक पहचान पर ज़ोर दिया गया है। साफ़ है सरकार संघ के एजेण्डे को लागू करना चाहती है।

पूरे पाठ्यक्रम में यूजीसी द्वारा जो किताबों की सूची दी गयी है ऐसा लगता है जैसे ज़्यादातर किताबें संघ के दफ़्तर से निकलकर आयीं हो। डी डी कोसम्बी, आर एस शर्मा, डी एन झा, इरफ़ान हबीब आदि जैसे देश के जाने माने इतिहासकारों का नाम इस सूची से ग़ायब है। साफ़ है मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से तमाम संस्थानों का बहुत तेजी से भगवाकरण किया जा रहा है। यूजीसी द्वारा बनाया गया नया पाठ्यक्रम इसी कड़ी में एक और क़दम है। फ़ासीवाद का यह गुण ही होता है कि यह आधुनिकता को नकारकर छद्म इतिहास का महिमा मण्डन कर इसे स्थापित करने की कोशिश करता है। इसका इस्तेमाल अल्पसंख्यकों को नकली दुश्मन बनाकर बहुसंख्यक आबादी के सामने वर्तमान बुरी परिस्थितियों का ज़िम्मेदार के रूप में पेश करना है। आज यही काम संघी फ़ासीवादी लगातार कर रहे हैं।

•

## पेज 15 का शेष:

मालवेयर के ज़रिये "प्रधानमन्त्री के हत्या की साज़िश" का फर्ज़ी दस्तावेज़ डाला गया था। आनन्द तेलतुम्बड़े, गौतम नौलखा, और अभी हाल ही में फ़ासिस्ट सत्ता के न्याय व्यवस्था के हाथों हत्या के शिकार हुए फ़ादर स्टेन स्वामी ने भी अपनी गिरफ़्तारी से पहले यही बात कही थी। सत्ता जबरिया जनता के पक्ष में मजबूती से खड़े इन बुद्धिजीवियों और राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं को माओवादी साबित करने में लगी हुई है, लेकिन इस घटना का शोर राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय मीडिया में नहीं के बराबर है। ऐसा क्यों है? क्योंकि मामला राज्य बनाम जनता के हितों में आवाज़ उठाने वाले लोगों की है।

राजसत्ता के अस्तित्व में आने, सुदृढ़ीकरण और बदलते स्वरूप के साथ-साथ ही जननिगरानी का एक पूरा तन्त्र विकसित होता गया है। पूँजीवाद मुनाफे की गिरती हुई दर के ढाँचागत संकट का शिकार है और हर विकास के साथ-साथ यह संकट और गहराता जाता है। आर्थिक स्तर पर गहराते इन संकटों में राजनीतिक संकटों की आहट होती है और इसलिए इसी के साथ-साथ जन निगरानी का तन्त्र ज़्यादा से ज़्यादा हाईटेक होता जाता है। सरकार हर जनआन्दोलन और जनता को संगठित करने में लगे व्यक्तियों और ग्रुपों के बारे में उनकी योजनाओं के बारे में सब कुछ जान लेना चाहती है और किसी भी सम्भावित ख़तरा पैदा होने की स्थिति में फर्ज़ी मुक़दमे, गिरफ़्तारियाँ, जान से मरवा देने आदि का हथकण्डा अपनाती है। लेकिन सत्ता यह बात भूल जाती है कि अब तक की कोई भी व्यवस्था अपने तमाम दमन के बावजूद भी अजर-अमर नहीं रही है और न ही वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था है। तकनीकी विकास के साथ साथ जैसे-जैसे राज्यसत्ता का निगरानी तन्त्र विकसित होगा और उसी अनुपात में या कई मौकों पर उससे ज़्यादा क्रान्तिकारी चेतना विकसित होगी। इसलिए एक दिन ऐसा ज़रूर आएगा कि तमाम हाइटेक से हाइटेक जासूसी और दमन का उन्नत से उन्नत तन्त्र किसी काम नहीं आएगा। जन तूफ़ान उठेगा और वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था इतिहास के कूड़ेदान में पड़ी होगी।

विशेष सामग्री

# म्यूरल आन्दोलन: मैक्सिकन क्रान्ति की आँच में निर्मित हुआ कला आन्दोलन

**सनी**

मैक्सिको में जन्मे 'जन तक कला' ले जाने का आह्वान करने वाले म्यूरल आन्दोलन के इतिहास को लगभग भुला दिया गया है। इस आन्दोलन से जुड़े रिवेरा और फ्रिडा काहलो का नाम तो फिर भी कला जगत में ले लिया जाता है। परन्तु इसे समाजवादी यथार्थवाद की धारा के रूप में या जनता के बीच कला लेकर जाने वाले आन्दोलन के रूप में नहीं जाना जाता है। वहीं म्यूरल आन्दोलन के जनकों में से एक सिक्वेरोस को बिलकुल ग़ायब कर दिया गया है। यह उनकी सक्रिय कम्युनिस्ट प्रतिबद्धता के कारण ही है। मैक्सिको का म्यूरल आन्दोलन 1920 से शुरू हुआ और 1970 तक जारी रहा।

1919 से मैक्सिको में और फिर उसके बाद मैक्सिको की सरकार के कलाकारों को दिया समर्थन वापस लेने पर अमरीका में कलाकार कलाकर्म करते रहे। बाद में कलाकारों की वापसी होने पर पुन: मैक्सिको में शानदार प्रयोग किये गये। कॉलेज, म्यूज़ियम से लेकर अस्पताल की दीवारें कैनवस बन गयीं। म्यूरल आन्दोलन ने मैक्सिको के इतिहास, उसकी जनता के संघर्षों की तस्वीरें उकेरीं। यह भी तब समझा जा सकता है जब हम मैक्सिको के इतिहास पर एक नज़र डालें। साथ ही मैक्सिकन म्यूरल आन्दोलन के प्रवर्तक सिक्वेरोस, रिवेरा और औरोको के जीवन पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालें।

आज अकादमिक जगत में बीसवीं शताब्दी में कला के मानकों में निर्णायक बदलाव करने वाले नामों में पिकासो, दालीयापोलोक आदि को ही गिनाया जाता है। मानवतावाद का परचम लेकर उठी पुर्नजागरण कला, विद्रोही रूमानीवादी कला से गोया, दोलीकार से लेकर कूर्बे तक की यथार्थवाद तक की यात्रा में कला ने समाज को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। बीसवीं शताब्दी में समाजवादी यथार्थवाद ने इसका जिम्मा उठाया। म्यूरल आन्दोलन भी समाजवादी यथार्थवाद की धारा के रूप में अपनी जगह पाता है। परन्तु अकादमिक जगत में इस यात्रा में कलाकारों की सामाजिक ऐतिहासिक भूमिका मिटा दी जाती है और सार को भुलाकर केवल रूप पर ज़ोर दिया जाता है। कलाकारों में समाज के प्रति प्रतिबद्धता, जन के बीच कला लेकर जाने या सामूहिक प्रतिरोध की कोई अवधारणा पैदा न हो इसका कला महाविद्यालयों में सचेतन प्रयास होता है। कला छात्रों में जो जनपक्षधर होते भी हैं वे प्रगतिशील कलाकार बोहेमियन समझदारी के शिकार मिलते हैं। ऐसे में म्यूरल आन्दोलन की ज़मीन की पड़ताल करना एक ज़रूरी कार्यभार है क्योंकि यह आन्दोलन कलाकारों को जनता से जुड़ने और उनके संघर्षों और उनके स्वप्नों को ही सड़कों पर उकेरने का आह्वान करता है।

अकादमिक जगत में कला इतिहास को उबाऊ रहस्यवादी और अमूर्तन तथा निष्पक्ष तौर पर पेश किया जाता है। प्रगतिशील अध्यापक अमूर्त चिन्तन और उत्तरआधुनिक कला विमर्श में ही छात्रों को उलझा कर रखते हैं। दर्शन के तौर पर फ़ूको सरीखे प्रतिक्रियावादी चिन्तकों को ही पढ़ाया जाता है। भारतीय कला के नाम पर अक्सर कला विद्यालयों में छात्र ईश्वरों की तस्वीर बनाते हैं। ऐसे में इतिहास के पन्नों पर बैठी धूल को साफ़ करना होगा ताकि भविष्य की ओर क़दम उठ सकें।

मैक्सिको का म्यूरल आन्दोलन मैक्सिको की ज़मीन पर उपनिवेशवादियों की लूट और क़त्लेआम, जनता के जीवन उनके संघर्षों और भविष्य को अभिव्यक्त करता है। म्यूरल पुर्नजागरण काल के फ्रेस्का को ही पुन: ऊँचे स्तर पर ले जाता है। यह ऐतिहासिक तौर पर निषेध का निषेध की ही प्रक्रिया है। एक ओर यह प्राचीन माया, एज़टेक व इंका सभ्यता से तत्व सोखता है तो दूसरी ओर पुर्नजागरण की कला की भव्यता और सबसे प्रमुख समाजवादी भविष्य के स्वप्नों को उकेरता है। यह सामाजिक यथार्थवाद की वह धारा है जो लातिन अमरीका की ज़मीन से निकली और नेरुदा की कविता, गालियानो और मार्खेज़ के जादुई यथार्थवाद के समानान्तर है परन्तु सिक्वेरोस की कलाकृतियाँ इन सभी से आगे जाती हैं। सिक्वेरोस ने म्यूरल व चित्रकला में इण्डस्ट्रियल पेण्ट का इस्तेमाल किया व उभर रहे समाज के दृश्यों के जो बिम्ब उकेरे वे शानदार हैं। सिक्वेरोस कल्चरल फोरम में सिक्वेरोस का काम आर्किटेक्चर के तत्वों को भी म्यूरल से मिलाता है। औरोको जहाँ युद्ध की त्रासदियों और जनपक्षधर म्यूरल बनाते हैं तो रिवेरा क्लासिकीय यूरोपीय फ्रेस्का के प्रयोगों को ही परिष्कृत करते हैं। मैक्सिको के आम जीवन को रिवेरा ने समाजवादी भविष्य से जोड़कर कई बेजोड़ म्यूरल बनाये।

पुर्नजागरण काल में बने फ्रेस्का को पुर्नजागरण काल में राफेयल और माइकल एन्जेलो सरीखे कलाकारों ने कला के ज़रिये मानवतावाद प्रचारित किया और सामन्तवाद की आत्मिक शक्ति के रूप में मौजूद कैथोलिक चर्च के वर्चस्व को चुनौती दी। म्यूरल आन्दोलन ने इस धारा को ही आगे बढ़ाते हुए जन संघर्षों और जन स्वप्नों के रंगों को सड़कों पर उकेरा। म्यूरल आन्दोलन के तीन महान कलाकारों के कलाकर्म पर और अधिक विस्तार में जाने से पहले हम मैक्सिको के इतिहास पर एक नज़र डाल लेंगे ताकि म्यूरल आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझी जा सके।

## मैक्सिको का एक संक्षिप्त इतिहास और म्यूरल आन्दोलन की पृष्ठभूमि

मैक्सिको और पूरे लातिन अमेरिका का इतिहास एदुआर्दो गालियानो के इस कथन से समझा जा सकता है।

''लातिन अमेरिका खुली शिराओं वाला देश है इसकी ख़ासियत इसकी हार में है, यह ख़ासियत तब से है जब पुनर्जागृत यूरोपियन समुद्र पार करके आये और इण्डियन सभ्यता के गले में अपने दाँत गाड़ दिये!''

लातिन अमेरिका की हार का दौर यहीं से शुरू होता है। माया, एज़टेक और इंका सभ्यता जब आधुनिक मैक्सिको, पेरू और एण्डीज की पर्वत मालाओं पर बसी हुई थी। यूरोपियनों का लातिन अमेरिका में प्रवेश यहाँ की आदिम सभ्यताओं के लिए प्रलय का अन्तकारी पल साबित हुआ और उपनिवेशवादी क़त्लेआम और मानवता के भीषण नरसंहार की शुरुआत भी यहीं से शुरू हुई। लातिन अमेरिका पहले लातिन नहीं था, स्पेनी उपनिवेशवादियों ने अमेरिका की सभ्यता को लगभग ख़त्म करके इसे लातिन अमेरिका बनाया था। इस इतिहास की छाप म्यूरल आन्दोलन की हर कृति में दिखायी पड़ती है।

लातिन अमरीका की औपनिवेशिक व्यवस्था का आर्थिक मॉडल इकानोमीडिया था जो कि कब्ज़े वाली जगह पर रहने वाली इण्डियन (मूल) आबादी को ग़ुलाम के रूप में इस्तेमाल करने का अधिकार देता था। लातिन अमेरिका कई राष्ट्रीयताओं का गढ़ बन चुका था।

पुनर्जागरण और प्रबोधन के विचारों से जन्मी फ्रांसीसी क्रान्ति व आज़ादी, बन्धुत्व और बराबरी के विचार स्पेन के उपनिवेशों में भी पहुँच रहे थे। नेपोलियन से हार के कगार पर पहुँच रहे स्पेन की स्थिति में उपनिवेशों में आज़ादी की लड़ाई छिड़ गयी। हालाँकि आज़ादी तो मिली पर कई रूपों में औपनिवेशिक रिश्ते क़ायम रहे, ग़ुलामी जारी रही। कडिलियोस जैसे ज़मींदारों के हाथ में ताकत आ गयी। मूल इण्डियन निवासी, अश्वेत नागरिक अब भी दोयम दर्ज़े के नागरिक का जीवन जी रहे थे। आगे आज़ादी के बाद का इतिहास उदारपन्थी और कट्टरपन्थियों के बीच टकराव, उभर रही बुर्ज़ुआजी,ज़मींदार व पिछड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले जो अब भी अपना माल विदेशों में बेचकर अमीर हो रहे थे।

औपनिवेशिक इतिहास से निकले लातिन अमेरिका के तमाम देशों में एक विशिष्ट किस्म के पूँजीवाद ने जन्म लिया। औपनिवेशिक अतीत के दौर में तो हर देश कुछ विशिष्ट उत्पादों का निर्यातक था ही (जैसे वेनेज़ुएला कॉफ़ी, बोलीविया कोकोवा, चिले नाइट्रेट, क्यूबा चीनी आदि) किन्तु आज़ादी के बाद भी इन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ वैविध्यपूर्ण नहीं बन सकीं। औपनिवेशिक स्वतन्त्रता के बाद भी तमाम लातिन अमेरिकी देश साम्राज्यवादी लूट की खुली चारागाह के रूप में इस्तेमाल किये जाते रहे। तमाम देशों में साम्राज्यवादी लुटेरे अपनी कठपुतली सत्ताओं की स्थापना करते रहे और ये सत्ताएँ जनता के द्वारा भी लगातार और बार-बार उखाड़कर फ़ेंकी जाती रहीं जिससे यहाँ की जनता के ज़बरदस्त साम्राज्यवाद विरोध और जुझारूपन का परिचय मिलता है।

मैक्सिको में भी 1821 में आज़ादी मिली परन्तु शासन का चरित्र नहीं बदला। राजशाही व पुरानी लूट जारी थी। 1910 में जनवादी क्रान्ति शुरू होती है। 1910 में शुरू हुई क्रान्ति के बाद एक के बाद एक तानाशाह उखाड़े जाते हैं और 1914 के बाद मैक्सिको में कैरेन्ज़ा की संविधानवादी सेना, ज़पाटा के नेतृत्व वाली सेना और पैंचो विआ की सेना के बीच सत्ता के लिए 1920 तक गृह युद्ध जारी रहता है। ज़पाटा की हत्या और पैंचो विआ की हार के बाद संविधानवादी सरकार बनती है जो जनता के दबाव में प्रगतिशील क़दम उठाती है। जब गृह युद्ध चल रहा था तब सिक्वेरोस 15 साल की उम्र में कला विद्यालय की हड़ताल में शामिल थे। इस दौरान वे जेल भी गये। बहरहाल, ज़पाटा की माँगों को भी 1917 में संविधानवादी सेना नए संविधान में जगह देती है। कलाकारों को भी जनपक्षधर और शैक्षणिक कार्य हेतु कलाकर्म हेतु प्रोत्साहन मिलता है। संविधानवादियों की सेना में महज़ तेईस साल की उम्र में ही कैप्टन के पद पर काम कर रहे सिक्वेरोस भी सैन्य सेवा छोड़कर कलाकर्म में लग जाते हैं। सिक्वेरोस महज़ चौदह साल की उम्र में अपने बाप से मैक्सिकन क्रान्ति विरोध के सवाल पर झगड़कर घर छोड़कर निकल आये थे। वे तब कला विद्यालय में थे। 1919 के बाद सिक्वेरोस को यूरोप जाने का मौका मिला ताकि यूरोप में कला का अध्ययन कर सकें। गृह युद्ध से दूर रिवेरा फ्रांस में कलाकर्म में लगे थे। सिक्वेरोस रिवेरा से मुलाकात कर इटली साथ जाते हैं और पुर्नजागरण काल के फ्रेस्का देखने के बाद ही म्यूरल आन्दोलन की मुख्य प्रतिस्थापनाओं पर चर्चा करते हैं। सिक्वेरोस मैक्सिको के कलाकारों के नाम 'विवा अमेरिका' में एक घोषणापत्र लिख मैक्सिको के म्यूरल आन्दोलन का सूत्रपात करते हैं।

## सड़कें ही हमारी म्यूज़ियम होंगी

सिक्वेरोस का 'अमरीकी चित्रकारों और मूर्तिकारों की नयी पीढ़ी का नया रास्ता' नामक घोषणापत्र असल में म्यूरल आन्दोलन का घोषणापत्र था, जिसमें उन्होंने मैक्सिको की विरासत, जनता के संघर्षों और मशीन युग के नये भविष्य को मज़दूरों के बीच ले जाने का आह्वान किया। अपने कलाकर्म को जनता तक पहुँचाने के लिए नये-नये रास्ते तलाश रहे थे। यहीं उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी से सम्पर्क किया और उसके नेतृत्व में ही कलाकारों, स्कल्पटर्स और इनग्रवर्स की यूनियन गठित की। इस यूनियन के मुखपत्र के रूप में सिक्वेरोस व अन्य कलाकारों ने 'एल मैशेट' पत्रिका निकाली। यह पत्रिका सरकार की वायदाखिलाफ़ी और निरंकुश चरित्र व अमरीकापरस्ती को खुली चुनौती बन रही थी। सरकार ने बतौर कला अध्यापक सिक्वेरोस को नौकरी से निकाल दिया। परन्तु सिक्वेरोस 'एल मैशेट' निकालते रहे। इस दौरान रिवेरा ने सरकार परस्ती की राह चुनी। सिक्वेरोस सक्रिय कम्युनिस्ट के तौर पर मज़दूरों को संगठित करने लगे। 'एल मैशेट' कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र बन गया। सिक्वेरोस केन्द्रीय कमेटी में चुन लिए गये। वहीं औरोको गृह युद्ध की ही भांति सबसे ख़ुद को अलग कर निष्पक्ष बन अमेरिका और मैक्सिको में म्यूरल बनाते रहे। 'एल मैशेट' का चरित्र भी एक दीवार पत्रिका के रूप में ही था। सिक्वेरोस के शब्दों में 'एल मैशेट' को मज़दूर बस्तियों में कारखाना इलाकों में दीवार पत्रिका की तरह चिपकाना ही था, जिससे कि यह म्यूरल का ही काम करे। सिक्वेरोस सोवियत रूस भी गये जहाँ उनकी स्तालिन से भी मुलाकात हुई। मायाकोव्स्की और रिवेरा से अलग सिक्वेरोस स्तालिन की इस बात से सहमत थे कि कला को मेहनतकश जनता की सेवा करनी चाहिए। मैक्सिको वापस जाने पर वे और अधिक सघनता से कम्युनिस्ट पार्टी में सक्रिय रहे। अगले हिस्से में हम सिक्वेरोस, रिवेरा व औरोको के जीवन की यात्रा पर बात करेंगे और उनके वैयक्तिक कलाकर्म पर बात रखेंगे। (अगले अंक में जारी)

कला-साहित्य

# वीरेन डंगवाल के जन्मदिवस और स्मृति दिवस के अवसर पर

**मंगलेश डबराल**

**हिन्दी की वाम कविता धारा के एक अग्रणी और अनूठे कवि वीरेन डंगवाल के 74वें जन्मदिन (5 अगस्त 1947) के विशेष अवसर पर उनको याद करते हुए हम यहाँ उनकी कुछ चुनी हुई कविताएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही नवारुण प्रकाशन से प्रकाशित वीरेन डंगवाल की सम्पूर्ण कविताओं के संकलन 'कविता वीरेन' की भूमिका को भी हम यहाँ साभार दे रहे हैं, जो उनके अन्तरंग मित्र मंगलेश डबराल ने लिखी है। (अफ़सोस कि मंगलेश डबराल भी अब हमारे बीच नहीं हैं। पिछले वर्ष 9 दिसम्बर को कोरोना ने उन्हें हमसे छीन लिया था।)**

**वीरेन डंगवाल एक ऐसे विरल कवि थे, जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व में कोई फाँक नहीं थी। उनका सृजन कर्म उनके जीवन का नैसर्गिक विस्तार था। वीरेन डंगवाल का व्यक्तित्व और कृतित्व हमें हमेशा याद दिलाता रहेगा कि एक अच्छा कवि होने के लिए एक अच्छा मनुष्य होना ज़रूरी है। 28 सितम्बर, 2015 को अजेय आत्मा वाले इस कवि के शरीर को एक लम्बे, कठिन संघर्ष के बाद कैंसर ने अन्ततोगत्वा पराजित कर दिया। कैंसर के विरुद्ध उनका लम्बा संघर्ष भी वैसा ही था, जैसा तमाम मानवद्रोही और मृत्युधर्मी प्रवृत्तियों के विरुद्ध उनकी कविता का अनथक विद्रोह।**

**– कात्यायनी**

## आएँगे, उजले दिन ज़रूर आएँगे

आतंक सरीखी बिछी हुई हर ओर बर्फ़
है हवा कठिन, हड्डी-हड्डी को ठिठुराती
आकाश उगलता अन्धकार फिर एक बार
संशय विदीर्ण आत्मा राम की अकुलाती
होगा वह समर, अभी होगा कुछ और बार
तब कहीं मेघ ये छिन्न -भिन्न हो पाएँगे
तहखानों से निकले मोटे-मोटे चूहे
जो लाशों की बदबू फैलाते घूम रहे
हैं कुतर रहे पुरखों की सारी तस्वीरें
चीं-चीं, चिक-चिक की धूम मचाते घूम रहे
पर डरो नहीं, चूहे आख़िर चूहे ही हैं
जीवन की महिमा नष्ट नहीं कर पाएँगे
यह रक्तपात यह मारकाट जो मची हुई
लोगों के दिल भरमा देने का ज़रिया है
जो अड़ा हुआ है हमें डराता रस्ते पर
लपटें लेता घनघोर आग का दरिया है
सूखे चेहरे बच्चों के उनकी तरल हँसी
हम याद रखेंगे, पार उसे कर जाएँगे
मैं नहीं तसल्ली झूठ-मूठ की देता हूँ
हर सपने के पीछे सच्चाई होती है
हर दौर कभी तो ख़त्म हुआ ही करता है
हर कठिनाई कुछ राह दिखा ही देती है
आए हैं जब चलकर इतने लाख बरस
इसके आगे भी चलते ही जाएँगे
आएँगे उजले दिन ज़रूर आएँगे

## हमारी नींद

मेरी नींद के दौरान
कुछ इंच बढ़ गये पेड़
कुछ सूत पौधे
अंकुर ने अपने नाम मात्र कोमल सींगों से
धकेलना शुरू किया
बीज की फूली हुई
छत, भीतर से।
एक मक्खी का जीवन-क्रम पूरा हुआ
कई शिशु पैदा हुए, और उनमें से
कई तो मारे भी गये
दंगे, आगज़नी और बमबारी में।
ग़रीब बस्तियों में भी
धमाके से हुआ देवी जागरण
लाउडस्पीकर पर।
याने साधन तो सभी जुटा लिए हैं अत्याचारियों ने
मगर जीवन हठीला फिर भी
बढ़ता ही जाता आगे
हमारी नींद के बावजूद
और लोग भी हैं, कई लोग हैं
अब भी
जो भूले नहीं करना
साफ़ और मज़बूत
इन्कार

## आँखें मूँदने से पहले याद करो रामसिंह और चलो...

दो रात और तीन दिन का सफ़र तय करके
छुट्टी पर अपने घर जा रहा है रामसिंह
रामसिंह अपना वार्निश की महक मारता ट्रंक खोलो
अपनी गन्दी जर्सी उतार कर कलफ़दार वर्दी पहन लो
रम की बोतलों को हिफ़ाज़त से रख लो रामसिंह, वक़्त ख़राब है ;
खुश हो, तनो, बस, घर में बैठो, घर चलो।
तुम्हारी याददाश्त बढ़िया है रामसिंह
पहाड़ होते थे अच्छे मौक़े के मुताबिक
कत्थई-सफ़ेद-हरे में बदले हुए
पानी की तरह साफ़
ख़ुशी होती थी
तुम कनटोप पहन कर चाय पीते थे पीतल के चमकदार गिलास में
घड़े में, गड़ी हई दौलत की तरह रक्खा गुड़ होता था
हवा में मशक्कत करते चीड़ के पेड़ पसीजते थे फ़ौजियों की तरह
नींद में सुबकते घरों पर गिरा करती थी चट्टानें
तुम्हारा बाप
मरा करता था लाम पर अँगरेज़ बहादुर की ख़िदमत करता
माँ सारी रात रात रोती घूमती थी
भोर में जाती चार मील पानी भरने
घरों के भीतर तक घुस आया करता था बाघ
भूत होते थे
सीले हुए कमरों में
बिल्ली की तरह कलपती हई माँ होती थी, बिल्ली की तरह
पिता लाम पर कटा करते थे
ख़िदमत करते चीड़ के पेड़ पसीजते थे सिपाहियों की तरह ;
सड़क होती थी अपरिचित जगहों के कौतुक तुम तक लाती हुई
मोटर में बैठ कर घर से भागा करते थे रामसिंह
बीहड़ प्रदेश की तरफ़।

तुम किसकी चौकसी करते हो रामसिंह ?
तुम बन्दूक के घोड़े पर रखी किसकी उँगली हो ?
किसका उठा हुआ हाथ ?
किसके हाथों में पहना हुआ काले चमड़े का नफ़ीस दस्ताना ?
ज़िन्दा चीज़ में उतरती हुई किसके चाकू की धार ?
कौन हैं वे, कौन
जो हर समय आदमी का एक नया इलाज ढूँढते रहते हैं ?
जो रोज़ रक्तपात करते हैं और मृतकों के लिए शोकगीत गाते हैं
जो कपड़ों से प्यार करते हैं और आदमी से डरते हैं
वो माहिर लोग हैं रामसिंह
वे हत्या को भी कला में बदल देते हैं।

पहले वे तुम्हें क़ायदे से बन्दूक पकड़ना सिखाते हैं
फिर एक पुतले के सामने खड़ा करते हैं
यह पुतला है रामसिंह, बदमाश पुतला
इसे गोली मार दो, इसे संगीन भोंक दो
उसके बाद वे तुम्हें आदमी के सामने खड़ा करते हैं
ये पुतले हैं रामसिंह बदमाश पुतले
इन्हें गोली मार दो, इन्हें संगीन भोंक दो, इन्हें... इन्हें... इन्हें...
वे तुम पर खुश होते हैं -- तुम्हें बख़्शीश देते हैं
तुम्हारे सीने पर कपड़े के रंगीन फूल बाँधते हैं
तुम्हें तीन जोड़ा वर्दी, चमकदार जूते
और उन्हें चमकाने की पॉलिश देते हैं
खेलने के लिए बन्दूक और नंगी तस्वीरें
खाने के लिए भरपेट खाना, सस्ती शराब
वे तुम्हें गौरव देते हैं और इसके बदले
तुमसे तुम्हारे निर्दोष हाथ और घास काटती हई
लड़कियों से बचपन में सीखे गये गीत ले लेते हैं

सचमुच वे बहुत माहिर हैं रामसिंह
और तुम्हारी याददाश्त वाकई बहुत बढ़िया है।

बहुत घुमावदार है आगे का रास्ता
इस पर तुम्हें चक्कर आएँगे रामसिंह मगर तुम्हें चलना ही है
क्योंकि ऐन इस पहाड़ की पसली पर
अटका है तुम्हारा गाँव
इसलिए चलो, अब ज़रा अपने बूटों के तस्मे तो कस लो
कन्धे से लटका ट्राँजिस्टर बुझा दो तो ख़बरें आने से पहले
हाँ, अब चलो गाड़ी में बैठ जाओ, डरो नहीं
गुस्सा नहीं करो, तनो

ठीक है अब ज़रा आँखें बन्द करो रामसिंह
और अपनी पत्थर की छत से
ओस के टपकने की आवाज़ को याद करो
सूर्य के पत्ते की तरह काँपना
हवा में आसमान का फड़फड़ाना
गायों का रम्भाते हुए भागना
बर्फ़ के ख़िलाफ़ लोगों और पेड़ों का इकट्ठा होना
अच्छी ख़बर की तरह वसन्त का आना
आदमी का हर पल, हर पल मौसम और पहाड़ों से लड़ना
कभी न भरने वाले ज़ख़्म की तरह पेट
देवदार पर लगे ख़ुशबूदार शहद के छत्ते
पहला वर्णाक्षर लिख लेने का रोमांच
और अपनी माँ की कल्पना याद करो
याद करो कि वह किसका ख़ून होता है
जो उतर आता है तुम्हारी आँखों में
गोली चलाने से पहले हर बार ?

कहाँ की होती है वह मिटटी
जो हर रोज़ साफ़ करने के बावजूद
तुम्हारे बूटों के तलवों में चिपक जाती है ?

कौन होते हैं वे लोग जो जब मरते हैं
तो उस वक्त भी नफ़रत से आँख उठाकर तुम्हें देखते हैं ?
आँखें मूँदने से पहले याद करो रामसिंह और चलो।

## इतने भले नहीं बन जाना

इतने भले नहीं बन जाना साथी
जितने भले हुआ करते हैं सरकस के हाथी
गदहा बनने में लगा दी अपनी सारी कुव्वत सारी प्रतिभा
किसी से कुछ लिया नहीं न किसी को कुछ दिया

ऐसा भी जिया जीवन तो क्या जिया?

इतने दुर्गम मत बन जाना
सम्भव ही रह जाय न तुम तक कोई राह बनाना
अपने ऊंचे सन्नाटे में सर धुनते रह गये
लेकिन किंचित भी जीवन का मर्म नहीं जाना

इतने चालू मत हो जाना
सुन-सुन कर हरक़ते तुम्हारी पड़े हमें शरमाना
बग़ल दबी हो बोतल मुँह में जनता का अफसाना
ऐसे घाघ नहीं हो जाना

ऐसे कठमुल्ले मत बनना
बात नहीं हो मन की तो बस तन जाना
दुनिया देख चुके हो यारो
एक नज़र थोड़ा-सा अपने जीवन पर भी मारो
पोथी-पतरा-ज्ञान-कपट से बहुत बड़ा है मानव
कठमुल्लापन छोड़ो
उस पर भी तो तनिक विचारो

काफ़ी बुरा समय है साथी
गरज रहे हैं घन घमण्ड के नभ की फटती है छाती
अन्धकार की सत्ता चिल-बिल चिल-बिल मानव-जीवन
जिस पर बिजली रह-रह अपना चाबुक चमकाती
संस्कृति के दर्पण में ये जो शक्लें हैं मुस्काती
इनकी असल समझना साथी
अपनी समझ बदलना साथी

## पी. टी. ऊषा

काली तरुण हिरनी
अपनी लम्बी चपल टाँगों पर
उड़ती है
मेरे ग़रीब देश की बेटी

आँखों की चमक में जीवित है अभी
भूख को पहचानने वाली विनम्रता
इसीलिए चेहरे पर नहीं है
सुनील गावस्कर की छटा

मत बैठना पी० टी० ऊषा
इनाम में मिली उस मारुति कार पर मन में भी इतराते हुए
बल्कि हवाई जहाज़ में जाओ
तो पैर भी रख लेना गद्दी पर

खाते हुए मुँह से चपचप की आवाज़ होती है ?
कोई ग़म नहीं
वे जो मानते हैं बेआवाज़ जबड़े को सभ्यता
दुनिया के
सबसे ख़तरनाक खाऊ लोग हैं !

## हम औरतें

रक्त से भरा तसला है
रिसता हुआ घर के कोने-अन्तरों में

हम हैं सूजे हुए पपोटे
प्यार किये जाने की अभिलाषा
सब्जी काटते हुए भी
पार्क में अपने बच्चों पर निगाह रखती हुई
प्रेतात्माएँ

हम नींद में भी दरवाज़े पर लगा हुआ कान हैं
दरवाज़ा खोलते ही
अपने उड़े-उड़े बालों और फीकी शक्ल पर
पैदा होने वाला बेधक अपमान हैं

हम हैं इच्छा-मृग
वंचित स्वप्नों की चरागाह में तो
चौकड़ियाँ
मार लेने दो हमें कमबख्तो !

## कुछ कद्दू चमकाए मैंने

कुछ कद्दू चमकाए मैंने
कुछ रास्तों को गुलज़ार किया
कुछ कविता-टविता लिख दीं तो
हफ़्ते भर ख़ुद को प्यार किया

अब हुई रात अपना ही दिल सीने में भींचे बैठा हूँ
हाँ जी हाँ वही कनफटा हूँ, हेठा हूँ
टेलीफ़ोन की बग़ल में लेटा हूँ
रोता हूँ धोता हूँ रोता-रोता धोता हूँ
तुम्हारे कपड़ों से ख़ून के निशाँ धोता हूँ

जो न होना था वही सब हुवाँ-हुवाँ
अलबत्ता उधर गहरा खड्ड था इधर सूखा कुआँ
हरदोई मे जीन्स पहनी बेटी को देख
प्रमुदित हुई कमला बुआ

तब रमीज़ कुरैशी का हाल ये था
कि बम फोड़ा जेल गया
वियतनाम विजय की ख़ुशी में
कचहरी पर अकेले ही नारे लगाए
चाय की दुकान खोली
जनता पार्टी में गया वहाँ भी भूखा मरा
बिलाया जाने कहाँ
उसके कई साथी इन दिनों टीवी पर चमकते हैं
मगर दिल हमारे उसी के लिए सुलगते हैं

हाँ जी, कामरेड कज्जी मज़े में हैं
पहनने लगे है इधर अच्छी काट के कपड़े
राजा और प्रजा दोनों की भाषा जानते हैं

और दोनों का ही प्रयोग करते हैं अवसरानुसार
काल और स्थान के साथ उनके संकलन त्रय के दो उदहारण
उनकी ही भाषा में :
"रहे न कोई तलब कोई तिश्नगी बाकी
बढ़ा के हाथ दे दो बूँद भर हमे साकी"
"मजे का बखत है तो इसमे हैरानी क्या है
हमें भी कल्लैन दो मज्जा परेसानी क्या है "

अनिद्रा की रेत पर तड़ पड़ तड़पती रात
रह गयी है रह गयी है अभी कहने से
सबसे ज़रूरी बात।

==========

'इन्हीं सड़कों से चल कर आते हैं आततायी/ इन्हीं सड़कों से चल कर आयेंगे अपने भी जन।' वीरेन डंगवाल 'अपने जन' के, इस महादेश के साधारण मनुष्य के कवि हैं। वे उन दूसरे प्राणियों और जड़-जंगम वस्तुओं के कवि भी हैं जो हमें रोज़मर्रा के जीवन में अक्सर दिखाई देती हैं, लेकिन हमारे दिमाग में दर्ज़ नहीं होतीं। कविता के ये 'अपने जन' सिपाही रामसिंह और इलाहाबाद के मल्लाहों, लकड़हारों, रेलवे स्टेशन के फेरीवालों, डाकियों, अपने दोस्तों की बेटियों समता और भाषा, निराला, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार, पीटी उषा, तारन्ता बाबू, किन्हीं माथुर साहब और श्रोत्री जी तक फैले हुए हैं। मनुष्येतर जीवधारियों और वस्तुओं के स्तर पर यह संसार भाप के इंजन, हाथी, ऊँट, गाय, भैंस, कुत्ते, भालू, सियार, सूअर, मक्खी, मकड़ी, पपीते, इमली, समोसे, नींबू, जलेबी, पुदीने, भात और पिद्दी का शोरबा आदि तक हलचल करता है। इन जीवित-अजीवित चीज़ों से वीरेन का व्यवहार कितना आत्मीय और ऐन्द्रीय है, इसके साक्ष्य उनकी बहुत सी रचनाओं में हैं। मसलन, 'फरमाइशें' में वे कहते है : *'कुत्ते मुझे थोड़ा-सा स्नेह दे/गाय ममता/भालू मुझे दे यार/शहद के लिए थोड़ा/अपना मर्दाना प्यार/भैंस दे थोड़ा बैरागीपन/बन्दर फुर्ती/ अपनी अक्ल से मुझे बख्शे रहना सियार'।* इस कविता में कुत्ते, गाय, भालू, भैंस, बन्दर और सियार की अपनी-अपनी स्वभावगत और मासूम विशेषताओं का वर्णन है, लेकिन असल चीज़ शायद वह प्रेम और आत्मीयता है जो इन प्राणियों के प्रति कवि के भीतर से उमड़ती है। कवि सियार से भी यह कहता है कि मुझे तुम्हारी अक्ल यानी चालाकी की ज़रूरत नहीं है।

भाप इंजन को याद करती, नींबुओं को सलाम करती, पोस्टकार्डों की महिमा गाती, अधेड़ नैनीताल की उधेड़बुन में उलझती, फूलों से भरी हुई फरवरी का 'घुटनों चलती बेटी' की तरह स्वागत करती, जीव-जन्तुओं और खाद्य पदार्थों की विलक्षण सत्ता का गुणगान करती इन कविताओं का उद्देश्य उनका एक 'लार्जर दैन लाइफ' रूपान्तरण करना नहीं, बल्कि उनके अपने अस्तित्व को, एक ख़ास और संक्षिप्त अर्थवत्ता और उस छोटे से प्रकाश को दिखलाना है जिसे हम प्राय: अनदेखा किये रहते हैं। साधारण चीज़ों की एक असाधारण दुनिया दिखाने का काम हिन्दी कविता में कुछ हद तक हुआ है, लेकिन वीरेन की कविता जैसे एक ज़िद के साथ कहती है कि मामूली लोग और मामूली चीज़ें दरअसल उसी तरह हैं जिस तरह वे हैं और इसी मामूलीपन में उनकी सार्थकता है, जिसे पहचानना उनके जीवन का सम्मान करना है और हम जितना अधिक ऐसे जीवन को जानेंगे, उतने अधिक मानवीय हो सकेंगे। व्यापक नकार और 'सिनिसिज़्म' के दौर में वीरेन की कविता जीवन के स्वीकार को ज़रा भी नहीं छोड़ती। 'मक्खी' शीर्षक कविता में स्याही में गिरी हुई मक्खी को जब बाहर निकाला जाता है तो *'वह दवात के कगार पर बैठी रही कुछ देर / हाल में घटी दुर्घटना के बोझ से झुकी हुई और पस्त/फिर दवात की ढलान पर रेंगती उतर गयी धूप में/अपने जुड़े पंखों पर पतली टांगों को चलाते हुए/उसने लिया हवा और धूप को /अपने झिल्ली डैनों पर/खिड़की पर बैठे हुए/कुछ देर बाद वह वहाँ नहीं थी/सलाख पर/ गिरी न होगी /उड़ चली होगी दूसरी मक्खियों के पास/क्योंकि मक्खियाँ गिरा नहीं करती कहीं से/अगर वे ज़िन्दा हों।'*

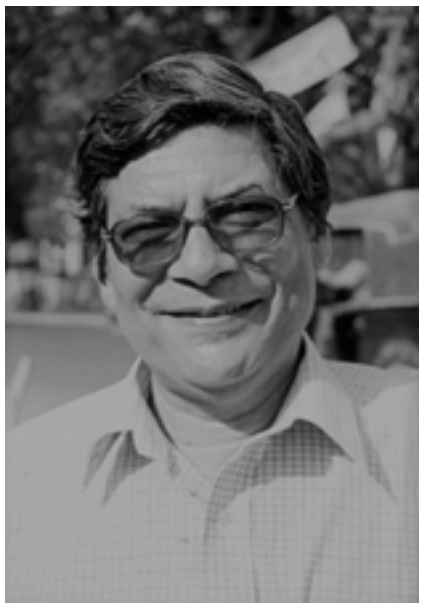

वीरेन के अड़सठ वर्षीय जीवन-काल (जन्म: 5 अगस्त 1947; निधन : 28 सितम्बर 2015) में तीन कविता संग्रह, कुछ छिटपुट लेख और 'पहल पुस्तिका' के रूप में तुर्की के क्रान्तिकारी महाकवि नाज़िम हिकमत की कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हुए। यह सफ़र 1991 में 'इसी दुनिया में' से शुरू हुआ हालाँकि तब तक 'रामसिंह', 'पीटी उषा', 'मेरा बच्चा', 'गाय', 'भूगोल-रहित', 'दुख', 'समय' और 'इतने भले नहीं बन जाना साथी' जैसी कविताओं ने वीरेन को मार्क्सवाद की ज्ञानात्मक संवेदना से अनुप्रेरित ऐसे प्रतिबद्ध और जन-पक्षधर कवि की पहचान दे दी थी, जिसकी आवाज़ अपने समकालीनों से कुछ अलहदा और अनोखी थी और अपने पूर्ववर्ती कवियों से गहरा संवाद करती थी। उसमें ख़ास तौर पर निराला और शमशेर बहादुर सिंह के काव्य-विवेक की रोशनी थी। 'इसी दुनिया में' की कुछ कविताएँ कवि की मूल प्रस्थापनाओं का घोषणा-पत्र जैसी मानी जा सकती हैं :

*मैं ग्रीष्म की तेजस्विता हूँ*
*और गुठली जैसा*
*छिपा शरद का ऊष्म ताप*
*मैं हूँ वसन्त का सुखद अकेलापन*
*जेब में गहरी पड़ी मूँगफली को छाँट कर*
*चबाता फ़ुरसत से*
*मैं चेकदार कपड़े की कमीज हूँ*
*उमड़ते हुए बादल जब रगड़ खाते हैं*
*मैं उनका मुखर गुस्सा हूँ।*

आत्मकथ्य सरीखी इन पंक्तियों में वीरेन की काव्य संवेदना के प्रमुख सरोकार साफ़ हो जाते हैं। उसमें अनुभव की उदात्तता है तो रोज़मर्रा की मामूली चीज़ों के प्रति गहरा लगाव भी। ग्रीष्म की तेजस्विता और शरद की ऊष्मा और वसन्त के सुखद अकेलेपन के साथ जेब में पड़ी मूँगफली और चेकदार कमीज की उपस्थिति एक नया यथार्थ और नया सौन्दर्यशास्त्र निर्मित करती है। यहाँ उदात्त अनुभवों और साधारण दुनियावी चीज़ों में कोई बुनियादी विभेद नहीं है, अमूर्तनों और भौतिक उपस्थितियों के बीच कोई दूरी नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे के साथ और उनके भीतर भी अस्तित्वमान और पूरक हैं। मामूलीपन और नगण्यता के जिस गुणगान के लिए वीरेन की कविता पहचानी गयी, उसकी शुरुआत इस तरह की बहुत सी और ख़ासकर 'पीटी उषा' जैसी कविताओं से हुई थी जिसमें वीरेन क्रिकेट की सम्भ्रान्तता के बरक्स एक दुबली-पतली धावक पीटी उषा के खेल की अपेक्षाकृत निम्नवर्गीयता, उसके सामान्य चेहरे और साँवलेपन को उभारते हुए उसे 'मेरे गरीब देश की बेटी' कह कर सम्बोधित करते हैं : *'उसकी आँखों की चमक में जीवित है अभी/भूख को पहचानने वाली विनम्रता/ इसीलिए चेहरे पर नहीं है/ सुनील गावस्कर की छटा।'* वे उसे सलाह देते हैं कि अगर खाना खाते समय तुम्हारे मुँह से चपचप की आवाज़ होती है तो यह अच्छा है क्योंकि जो लोग *'बेआवाज़ जबड़े को सभ्यता मानते हैं/ वे दुनिया के सबसे खाऊ और इसलिए ख़तरनाक लोग हैं।'*

'पर्जन्य', वरुण', 'इन्द्र', 'द्यौस' जैसे रूपकों और बिम्बों पर रोमांचक शिल्प की कविताओं में भी वीरेन की संवेदनात्मक स्मृति का स्वरूप इसी तरह जनवादी और प्रतिबद्ध रहा। इन वैदिक छवियों को साधारण जन की आँखों से और एक भौतिक भूमिका में देखा गया है। वीरेन जब इन्द्र का उल्लेख करते हैं तो उसकी उंगलियों में मोटी-मोटी पन्ने की अंगूठियाँ दिखलाना नहीं भूलते : *'वह समुद्रों को उठाकर सितार की तरह बजाता है/ वह पानी का स्वामी है,/सातों समुद्रों और सारी नदियों पर उसका एकाधिकार है/ जबकि यहाँ हमारे कण्ठ स्वरहीन और सूखे हैं'।* वन की देवी वन्या भी जंगलात के अफसरों की क्रूरता से भयभीत स्त्री है और अपने ही जंगल में जाते हुए आशंका से भरी हुई है : *'अकेले कैसे जाऊँगी मैं वहाँ/ मुझे देखते ही विलापने लगते हैं चीड़ के पेड़/ सुनाई देने लगती है/ किसी घायल लड़की की दबी-दबी कराह।'* इन रचनाओं में वीरेन ने देवताओं के संसार में भी वर्ग-विभेद को, उनकी जन-पक्षधर और जन-विरोधी उपस्थितियों को जिस शिद्दत से रेखांकित किया, वह हिन्दी कविता में पहले नहीं थी। यह एक नया आयाम था, जिसमें पपीता, इमली, समोसे, जलेबी, ऊँट, हाथी, गाय, मक्खी जैसी वस्तुएं भी पहली बार कविता का विषय बनीं।

ये कविताएँ जिस दौर में लिखी गयीं, वह नेहरू युगोत्तर मोहभंग की सामाजिक-बौद्धिक-राजनीतिक उथल-पुथल, नक्सलबाड़ी की 'वसन्त गर्जना' और उसके क्रूर दमन, विश्व स्तर पर वियतनाम युद्ध के विरोध, अमेरिका की विद्रोही बीट पीढ़ी की अराजकता और काली या अश्वेत चेतना से उबलता हुआ था। वीरेन की संवेदना पर भी इस वैश्विक उभार की गहरी छाप पड़ी। उन्हीं दिनों आलोकधन्वा की 'जनता का आदमी' और 'गोली दागो पोस्टर', लीलाधर जगूड़ी की 'बलदेव खटिक' और वीरेन की 'रामसिंह' नक्सलबाड़ी संघर्ष की प्रमुख कविताओं के रूप में चर्चित हुईं और नाटकों की शक्ल में भी मंचित की गयीं। इन कविताओं का मुख्य सरोकार मनुष्य का शोषण-दमन करने वाली शासक शक्तियों का प्रतिरोध करना, क्रान्ति का स्वप्न जगाना और मानवीय अच्छाई और समानता के संघर्ष की अनिवार्यता को रेखांकित करना था। 'रामसिंह' एक गरीब पहाड़ी परिवार के बेटे और फौजी सिपाही को सालाना छुट्टी पर घर जाते हुए देखती है और उसे आत्म-साक्षात्कार के बिन्दु तक ले जाती है :

*तुम किसकी चौकसी करते हो रामसिंह?*
*तुम बन्दूक के घोड़े पर रखी किसकी उँगली हो?*
*किसका उठा हुआ हाथ?*
*किसके हाथों में पहना हुआ काले चमड़े का नफ़ीस दस्ताना?*
*ज़िन्दा चीज़ में उतरती हुई किसके चाकू की धार?*
*कौन हैं वे, कौन*
*जो हर समय आदमी का एक नया इलाज ढूँढ़ते रहते हैं?*
*जो रोज़ रक्तपात करते हैं और मृतकों के लिए शोकगीत गाते हैं*
*जो कपड़ों से प्यार करते हैं और आदमी से डरते हैं*
*वे माहिर लोग हैं रामसिंह*
*वे हत्या को भी कला में बदल देते हैं*

यह कविता अपने क्रान्तिकारी वक्तव्य के अलावा रामसिंह के फौजी जीवन के ब्यौरों के साथ पहाड़ के स्मृति-बिम्बों को एक विरोधाभासी कथ्य-संयोजन में रखने की वजह से भी याद की गयी। ऐसे बिम्ब तब तक हिन्दी कविता में बहुत नहीं आये थे : 'पानी की तरह साफ़ खुशी', 'घड़े में गड़ी हुई दौलत की तरह रक्खा गुड़', 'हवा में मशक्कत करते पसीजते चीड़ के पेड़', 'नींद में सुबकते घरों पर गिरती हुई चट्टानें', 'घरों में भीतर तक घुस आता बाघ' ऐसे ही सघन दृश्य हैं। हाथी, ऊँट, गाय, पपीता, इमली, समोसे वगैरह पर लिखी कविताओं की संरचना विवरणात्मक और निबन्ध सरीखी है। 'गाय' कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ— *'वह एक गाय है/धुँधला सफेद है उसका रंग/ वह घास चर रही है/ वहाँ जहाँ बरसात ने मैदान बना दिया है/ जब वह चरती है तो चर्र-चर्र करती है'*—तीसरी-चौथी कक्षा के किसी बच्चे के वाक्यों की याद दिलाती है जिसे परीक्षा में गाय पर निबन्ध लिखने के लिए कहा गया हो। यह संघ परिवार की करतूतों और साम्प्रदायिक धर्मतन्त्र, द्वारा एक आक्रामक धार्मिक प्रतीक में बदल दी गयी गाय नहीं, बल्कि भारतीय गाँवों और किसान जीवन के 'सेकुलर स्पेस' की प्राणी है। कई वर्ष पहले 'इसी दुनिया में' की समीक्षा करते हुए रवींद्र त्रिपाठी ने लिखा था कि 'कवि गाय को धार्मिक संदर्भों से मुक्त कर उसे आत्मीय रूप में प्रस्तुत करता है। यह भारतीय मनुष्य और गाय के उदात्तीकृत रिश्ते का एहसास है।' इसी संग्रह की 'इलाहाबाद :1970' और 'सड़क के लिए सात कविताएँ' भी चर्चा में रहीं जो इलाहाबाद को तत्कालीन साहित्यिक माहौल में अनोखे ढंग से देखती थीं : *'छूटते हुए छोकड़ेपन का गम, कड़की, एक नियामत है डोसा/ कॉफी हाउस में थे कुछ लघुमानव, कुछ महामानव/ दो चे गेवारा/ मनुष्य था मेरे साथ रमेन्द्र /उसके पास थे चार रुपये। '*

संग्रह की एक और कविता में वीरेन मनुष्य के दुःख की पहचान एक नये और भौतिक ढंग से करते हैं, उसे 'भाप की तरह तैरते हुए' देखते हैं, अँधेरे में भी उसकी सच्चाई से साक्षात्कार करते हैं और फिर उससे एक सार्थक राजनीतिक आयाम दे देते हैं : *'नकली सुखी आदमी की आवाज़ में/टीन का पत्तर बजता है/*

*मसलन मारे गये लोगों पर/राजपुरुष का रुँधा हुआ गला।'* इस तरह के अप्रत्याशित अर्थ-स्तर वीरेन की कविता में बहुत बार आते हैं और एक कथ्य अचानक एक ज़्यादा व्यापक अनुभव तक चला जाता है। मुक्तिबोध ने जब 'कविता की स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति' की ज़रूरत का ज़िक्र किया था तो उनका आशय ऐसे ही विस्तारों से रहा होगा। 'तोप' शीर्षक कविता इसकी एक सुन्दर मिसाल है जो कवि की प्रतिबद्धता, अन्याय के साधनों और जन-सघर्षों से जुड़ी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को बतलाती है। सन् 1857 की जन-क्रान्ति का दमन करने के काम आयी एक औपनिवेशिक तोप का मौजूदा हाल यह है कि उस पर बच्चे घुड़सवारी करते हैं और चिड़ियाँ कभी उसके ऊपर और कभी भीतर बैठकर गपशप करती हैं। अन्त में कवि कहता है : *'कितनी भी बड़ी हो तोप/ एक दिन तो होना ही है उसका मुँह बन्द।'* दरअसल वीरेन आरम्भ से ही एक अलग किस्म के कवि के रूप में सामने आये और 'इसी दुनिया में' आठवें दशक की कविता का एक प्रमुख दस्तावेज़ बन गया।

ग्यारह साल बाद सन 2002 में वीरेन का दूसरा संग्रह 'दुश्चक्र में स्रष्टा' प्रकाशित हुआ, जिस पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। कुछ समय तक यह तुलना भी होती रही कि दोनों संग्रह हस्ताक्षर-कविता बने। 'उजले दिन ज़रूर' को प्रतिबद्ध जनवादी कथ्य के कारण 'इतने भले नहीं बन जाना साथी' और 'हमारा समाज' जैसी पहले संग्रह की कविताओं के साथ बहुत सी साहित्यिक गोष्ठियों और ख़ासकर जनसंस्कृति मंच और 'हिरावल' के कार्यक्रमों में गाया जाने लगा। इसी दौर में वीरेन ने नाज़िम हिकमत की कई कविताओं का प्रभावशाली अनुवाद किया, जिनकी गहरी भावनात्मकता की छाप भी उन पर पड़ी।

'दुश्चक्र में स्रष्टा' वीरेन की बेहतरीन कविताओं में शामिल है। यह किसी अज्ञात ईश्वर, किसी 'करुणानिधान' से किये गये शिकवे की तरह है, जिसमें प्रकृति के विशाल कारोबार को, नदी, पर्वत, हाथी की सूँड़, कुत्ते की जीभ और दुम, मछली, छिपकली और आदमी की आँतों के जाल को 'भगवान का कारनामा' करार देते हुए समकालीन यथार्थ का भयावह परिदृश्य है और मौजूदा अमानुषिकताओं-विरूपणों के बारे में विचलित करने वाले सवाल पूछे गये हैं :

*नहीं निकली कोई नदी पिछले चार-पाँच सौ सालों से*
*जहाँ तक मैं जानता हूँ*
*न बना कोई पहाड़ या समुद्र*
*एकाध ज्वालामुखी ज़रूर फूटते दिखाई दे जाते हैं कभी-कभार।*
*बाढ़ें तो आयीं खैर भरपूर, काफ़ी भूकम्प,*
*तूफान खून से लबालब हत्याकाण्ड अलबत्ता हुए खूब*
*खूब अकाल, युद्ध एक से एक तकनीकी चमत्कार*
*रह गयी सिर्फ़ एक सी भूख, लगभग एक सी फौजी*
*वर्दियाँ जैसे*
*मनुष्य मात्र की एकता प्रमाणित करने के लिए*
*एक जैसी हुंकार, हाहाकार!*
*प्रार्थनागृह ज़रूर उठाये गये एक से एक आलीशान!*
*मगर भीतर चिने हुए रक्त के गारे से*
*वे खोखले आत्माहीन शिखर-गुम्बद-मीनार*
*ऊँगली से छूते ही जिन्हें रिस आता है खून!*
*आख़िर यह किनके हाथों सौंप दिया है ईश्वर*
*तुमने अपना इतना बड़ा कारोबार?'*

'दुश्चक्र में स्रष्टा' हमारे समाज, लोकतन्त्र और मनुष्य की आत्मिक संरचना में आये क्षरण और गिरावट को दर्ज करता है। 'हड्डी खोपड़ी ख़तरा निशान' में जब वीरेन कहते हैं कि *'अब दरअसल सारे ख़तरे ख़त्म हो चुके हैं/ प्यार की तरह'* तो वे एक आत्म-केन्द्रित, ख़ुदगर्ज़, और संवेदना-रहित होते जाते समाज पर गहरा व्यंग्य करते हैं। ऐसी रचनाओं में ख़ास तौर से लोकतन्त्र पर बढ़ने वाले संकटों और साम्प्रदायिक ताकतों के उन्माद की तीखी प्रश्नाकुल चीरफाड़ मिलती है : *'पर हमने कैसा समाज रच डाला है/ इसमें जो दमक रहा, शर्तिया काला है/ वह क़त्ल हो रहा सरे आम सड़कों पर/ निर्दोष और सज्जन, जो भोला-भाला है/ किसने ऐसा समाज रच डाला है/ जिसमें बस वही दमकता है जो काला है?'* अयोध्या में बाबरी मस्जिद के साज़िशी विध्वंस की त्रासदी पर लिखते हए वीरेन दो कविताओं में निराला को याद करते हैं और राम और निराला, दोनों को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर राष्टीय स्वयंसेवक संघ की साम्प्रदायिक-फ़ासिस्ट ताकतों के प्रतिरोध का औज़ार बना देते हैं। 'अयोध्या-फैज़ाबाद' भी निराला की एक कविता-पंक्ति को उद्धृत करते हुए कहती है :

*वह एक और मन रहा राम का*
*जो न थका*
*इसीलिए रौंदी जा कर भी*
*मरी नहीं हमारी अयोध्या*
*इसीलिए हे महाकवि, टोहता फिरता हूँ मैं*
*इस*
*अँधेरे में*
*तेरे पगचिह्न।*

एक छन्दबद्ध कविता 'उजले दिन ज़रूर' में भी देश और समाज के हालात बतलाने के लिए निराला की 'राम की शक्ति पूजा' का संदर्भ है : *'आकाश उगलता अन्धकार फिर एक बार/ संशय विदीर्ण आत्मा राम की अकुलाती/होगा वह समर, अभी होगा कुछ और बार/ तब कहीं मेघ ये छिन्न-भिन्न हो पायेंगे/ आयेंगे उजले दिन ज़रूर आयेंगे।'* 'रात-गाड़ी' भी संग्रह की एक अहम कविता है हालाँकि उसकी चर्चा ज़्यादा नहीं हुई। वह 'दीन और देश' यानी नैतिकता और समाज के विकृत-अमानवीय परिदृश्य की पड़ताल करती है जहाँ एक तरफ 'बेरोज़गारों के बीमार कारखानों जैसे विश्वविद्यालय' हैं, 'राजधानियाँ गुण्डों के मेले हैं', 'कलावा बाँधे गदगद खल विदूषक' हैं जो 'सोने के मुकुट पहनकर फोटो उतरवा रहे' हैं, और दूसरी तरफ *'बेघर बेदाना बिना काम के मेरे लोग/ चिन्दियों की तरह उड़े चले जा रहे हैं/ हर ठौर देश की हवा में।'* दो विसंगतियों को एक साथ रखने की इस प्रविधि में हमें पूरा देश दिखाई दे जाता है जिसकी आख़िरी पंक्तियों में कवि कहता है : *'खुसरो की बातों में संशय है/ खुसरो की बातों में डर है/ इसी रात में अपना भी घर है'।* 'माथुर साहब को नमस्कार' भी ऐसी ही कम चर्चित कविता है, जो दो व्यक्तियों के माध्यम से मनुष्यता की निरन्तरता और उसमें कवि की अटूट आस्था को मर्म छूने वाले ढंग से रेखांकित कर जाती है। इस प्रसंग में कवि को कहीं अचानक अपने गणित के दिवंगत अध्यापक माथुर साहब दिखाई दे जाते हैं, लेकिन फिर पता चलता है कि वे कोई श्रोत्री जी हैं जिन्हें कवि ने माथुर सर समझ कर नमस्कार किया है। माथुर साहब की अनुपस्थिति

में श्रोत्री जी की उपस्थिति समूची मनुष्य जाति से प्रेम का एक मार्मिक वक्तव्य निर्मित करती है : *'लोगों में ही दीख जाते हैं लोग भी/ लोगों में ही वे बच रहते हैं/ किसी चमकदार सुघड़ मज़बूत विचार की तरह/ दीख जाते हैं कौंधकर जब लग रहा होता है 'सब कुछ ख़त्म हुआ'/शुक्रिया श्रोत्रीजी माथुर सर शुक्रिया/याद रखूँगा मैं अपना सीखा गणित का एकमात्र सूत्र/ 'शून्य ही है सबसे ताकतवर संख्या/ हालाँकि सबसे नगण्य भी।'*

वैचित्र्य-विरूप और कौतुक को, ज़िन्दगी के ऊटपटाँगपन को देखने की वीरेन की लाजवाब क्षमता भी इस संग्रह की कई कविताओं में सामने आयी। मिसाल के लिए, यूनानी संगीतकार यान्नी की अगवानी में लिखी गयी 'डीज़ल इंजन'। यान्नी ने कुछ वर्ष पहले ताजमहल के सामने अपना संगीत प्रस्तुत किया था। यान्नी संगीत के हमारे देसी माहौल में उसी तरह की उपस्थिति हैं जैसे कोयला इंजन के रोमांच की दुनिया में बेसुरे भड़भड़ करते डीज़ल इंजन का आगमन। यह छोटी सी कविता रेल में डीज़ल इंजन और संगीत में यान्नी का एक साथ इस तरह स्वागत करती है : *'आओ जी, आओ लोहे के बनवारी/अपनी चीकट में सने-बने/यह बिना हवा की पुष्ट देह/ यह भों-पों-पों/ आओ पटरी पर खड़कताल की संगत में/ विस्मृत हों सारे आर्तनाद / आओ, आओ चोखे लाल/ आओ, आओ चिकने बाल/ आओ, आओ दुलकी चाल/ पीली पट्टी लाल रूमाल/ आओ रे, अरे, उरे, उपूरे, परे, दरे, पूरे, दपूरे/ के रे केरे?'* यह देखना दिलचस्प है कि वीरेन किस तरह डीज़ल इंजन और यान्नी के बीच एक सम्बन्ध बनाते हैं। दोनों का संगीत हमारे अपने ध्वनि-सहचर्यों को दबा देता है और उस विसंगति को पैदा करता है जो हमारे अपने जीवन-स्वर को विस्मृत करती हुई एक विरूपता को प्रविष्ट करा देती है। कविता की अन्तिम पंक्तियाँ : 'आओ रे, अरे, उरे, उपूरे, परे, दरे, दपूरे, के रे, केरे' के विन्यास में सतह पर कुछ अपरिचित शब्द हैं और इन शब्द-समुच्चयों को हम उत्तर रेल, उत्तर-पूर्व रेल, पश्चिम और दक्षिण रेल, दक्षिण-पूर्व रेल और केन्द्रीय रेल जैसे अर्थों में ले सकते हैं, लेकिन यहाँ वे अपने अर्थों से विच्छिन्न संकेतकों का रूप भी ग्रहण कर लेते हैं और ध्वनियों का एक विरूप पैदा करते हैं।

'घोड़ों का बिल्ली अभिशाप', 'काम-प्रेम', 'गप्प-सबद' और 'कुछ नयी कसमें' भी ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें वीरेन शिल्पगत तोड़फोड़ करते हैं और अनुभवों के विद्रूप की चीरफाड़ भी करते हैं। 'कुछ नयी कसमें' विचित्र ढंग से *'हल्दीराम भुजिया की कसम/ रिलायंस के तेल की कसम/ प्रमोद महाजन की कसम, कालू वितर्णा की कसम/ भाईचुंग भूटिया की कसम'* खाती हुई अन्त में कुछ सुन्दर-साधारण-सुखद चीज़ों की कसमें खाकर एक प्रतिरोधात्मक कविता बन जाती है : *'फिर भी लेता हूँ फूलमती तिराहे की कसम/ पुल बंगश की कसम/ चमेली की बगिया की कसम/ ठंडी रसमलाई की कसम/ सिविल लैन इलाहाबाद की कसम/ सेमल की रूई जैसे कुरकुरे कोहरे से भरे / नैनीताल की कसम/ जो चीज़ तू है कोई और नहीं।'* ऐसी कविताओं का उद्देश्य सिर्फ़ भाषाई खिलवाड़ या कौतुक नहीं है। इन कसमों के ज़रिये वीरेन यह भी बताते चलते हैं कि साधारण चीज़ों-जगहों के कसम खाने में एक असाधारणता और वर्गीय विशिष्टता निहित है। इस अर्थ में ये कसमें कवि की राजनीतिक प्रस्थापनाएँ भी हैं।

एक और कविता 'सूअर का बच्चा' वीरेन की बारीक निरीक्षण क्षमता, ब्यौरों की पकड़, छन्द-प्रयोग और ठेठ देसी किस्म के सौन्दर्यशास्त्र का सुन्दर उदाहरण है। पहली बारिश में 'धुल-पुँछकर अंग्रेज़' बना हुआ सूअर का बच्चा अपनी आँखों से सड़क के जो दृश्य देखता है, उनका इतना राग-भरा वर्णन एक दुर्लभ अनुभव है जो वीरेन के अलावा शायद नागार्जुन या त्रिलोचन या नगरीय प्रसंगों में रघुवीर सहाय के यहाँ ही मिल सकता है। वे एक कस्बे की सड़क के दृश्य हैं जिनमें आम तौर पर कोई आकर्षण नहीं होता, लेकिन वीरेन सूअर के बच्चे की आँखों से देखे गये दृश्यों को इतना कोमल और उदात्त बना देते हैं कि वह एक क्लासिकी अनुभव में बदलने लगता है : *'पहले-पहल दृश्य दीखते हैं इतने अलबेले/ आँखों ने पहले-पहले अपनी उजास देखी है/ ठण्डक पहुँची सीझ हृदय में अद्भुत मोद भरा है/ इससे इतनी अकड़ भरा है सुअर का बच्चा।'* पहले इस कविता का उपशीर्षक 'सूअर के बच्चे का प्रथम वर्षा दर्शन' था। सूअर का बच्चा वीरेन की निगाह में किसी भी दूसरे मानवीय या मानवेतर शिशु जैसी ही, बल्कि शायद उससे भी अधिक कोमल-निश्छल उपस्थिति है। दरअसल मनुष्यों, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों और खाद्य सामग्री का भी एक निम्न वर्ग, एक 'सबॉल्टर्न' होता है, जिससे वीरेन को मानव जाति जैसा ही लगाव है। 'समोसे' इस संदर्भ में एक प्रतिनिधि उदाहरण है। इसमें एक आम निम्नवर्गीय दुकान का ज़िक्र है जहाँ 'कढ़ाई में सनसनाते समोसे' बन रहे हैं : *'बड़े झरने से लचक के साथ/ समोसे समेटता कारीगर था/दो बार निथारे उसने झन्नफन्न/ यह दरअसल उसकी कलाकार/ इतराहट थी/ तमतमाये समोसों के सौन्दर्य पर/ दाद पाने की इच्छा से पैदा'*, और फिर—*'कौन अभागा होगा इस क्षण/ जिसके मन में नहीं आयेगी एक बार भी/ समोसा खाने की इच्छा।'* जब कवि समोसे खाने के लिए लपकता है, तब तक समोसे बनाता कलाकार और समोसे की कलात्मकता इतने स्वायत्त हो उठते हैं कि अपना सौन्दर्यशास्त्र निर्मित कर लेते हैं और उनके सामने समोसे के लिए ललचाता व्यक्ति कुछ अप्रासंगिक हो उठता है। वीरेन का हुनर यह है कि वे मनुष्य के उपभोग में आने वाली चीज़ों को मनुष्य से अलग करके स्वतन्त्र और स्वायत्त बना देते हैं।

वीरेन की संवेदना के एक सिरे पर नागार्जुन जैसे जनकवि की देसीपन और यथार्थवाद है तो दूसरे सिरे पर शमशेर जैसे 'सौन्दर्य के कवि' हैं और दोनों के बीच कही निराला की उपस्थिति है। तीनों मिलकर उनके काव्य- विवेक की त्रिमूर्ति निर्मित करते हैं और अपने वक्त के अँधेरे से लड़ने की राह दिखाते हैं : 'कवि हूँ मैं पाया है प्रकाश।' 'शमशेर' शीर्षक कविता एक बड़े कवि के विकल जीवन को बहुत कम शब्दों में दर्ज करती है : *'अकेलापन शाम का तारा था/ इकलौता/ उसे मैंने गटका/ नींद की गोली की तरह/ मगर मैं सोया नहीं।'* दरअसल पूर्वजों से लगातार संवाद करती वीरेन की कविता भाषा का भी एक नया देशकाल रचती है, जिसमें तत्सम-तद्भव आपस में घुले-मिले हैं और अक्सर तत्सम की जगह तद्भव है या इसका उलट है। उनके राजनीतिक-नैतिक सरोकार और ठेठ देशज अनुभव क्लासिक आयाम से जुड़कर एक संश्लिष्ट काव्य-व्यक्तित्व बनाते हैं। यह अन्तरक्रिया तब और भी दिखती है जब वे शमशेर जैसी सौन्दर्य की ऊँचाई पर जाते हैं और वहाँ एक नागार्जुन खड़े मिलते हैं और जब नागार्जुन के निपट निरलंकार यथार्थ को खोजते हैं तो वहाँ एक शमशेर मौजूद होते हैं। इन दो बड़ी परम्पराओं के भीतर काम करते हुए

वीरेन प्रचलित काव्य-प्रविधियों में एक ज़रूरी विखण्डन भी पैदा करते हैं और सौन्दर्य, प्रेम और संघर्ष की निम्नवर्गीयता को कसकर थामे रहते हैं। इसके लिए वे भाषायी अराजकता को भी अपनाते हैं, कई प्रचलित देशज शब्दों का इस्तेमाल करते हैं या पुराने शब्दों को नयों की तरह बरतते हैं।

वीरेन का तीसरा संग्रह 'स्याही ताल' सन 2010 में प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी बेचैनी और बेफिक्री, समकालीन हताशा और बुनियादी उम्मीद के भरपूर साक्ष्य मिलते हैं। 'कटरी की रुकुमिनी और उसकी माता की खण्डित कथा' जैसी कुछ लम्बी कविता में वीरेन अपने भयावह समय को एक खण्डित गद्यात्मक कथा में पढ़ते हैं। यह एक चिन्तित मनुष्य की कविता है जो समाज के 'सड़ते हुए जल' में देखता है कि किस तरह एक कस्बाई जीवन में ग्राम प्रधान, दारोगा और स्मैक तस्कर वकील का भ्रष्ट त्रिकोण घुसपैठ कर चुका है। वह एक गरीब विधवा की चौदह वर्ष की बेटी को अपना शिकार बनाना चाहता है। यह एक दुर्वह-दुस्सह अनुभव के ब्यौरों की कविता है जिसके और भी बर्बर और डरावने रूप आज हमारे समाज में बढ़ रहे बलात्कारों, बेरहमियों और हिंसा में दिखाई दे रहे हैं। 'ऊधो, मोहि ब्रज' में इलाहाबाद के 'अमरूदों की उत्तेजक लालसा-भरी गन्ध' को याद करने के साथ ही वीरेन कहते हैं : *'अब बगुले हैं या पण्डे हैं या कउवे हैं या वकील/नर्म भोले मृगछौनों के आखेटोत्सुक सियार।'* यह सिर्फ़ मोहभंग नहीं है, बल्कि एक नये डरावने समय में आशंकित मन की मुक्तिबोधीय चिन्ता है।

'स्याही ताल' वीरेन डंगवाल के जीवन की दो त्रासद घटनाओं का दस्तावेज़ भी है : पिता की मृत्यु, और ख़ुद की बीमारी, जो सारी उम्मीदों के ख़िलाफ़ असाध्य और अन्ततः प्राणघातक बनती गयी। 'रॉकलैंड डायरी' बीमारी के दौरान अस्पताल में देखे-सोचे गये दृश्यों की डरावनी फैण्टेसी है और अनायास मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' की याद दिलाती है : *'विभ्रम/ दुःस्वप्न /कई धारावाहिक कूट कथाओं की रीलें/ अलग-बगल एक साथ चलतीं,/ जनता, हाँ जनता को रौंद देने के लिए उतरीं/ फौजी गाड़ियों की तरह/ हृदय में घृणा और जोश भरे/ साधु-सन्त-मठाधीश-पत्रकार दौलत के लिज-गिल-गिल/ पिछलग्गू /ललकारते जाति को एक नये विप्लव के लिए।'* चार कवितांश पिता की बीमारी, मृत्यु, अन्तिम संस्कार और फिर स्मृति से सम्बन्धित हैं और अन्त में पिता स्मृति में इस तरह बच रहते हैं : *'एक शून्य की परछाईं के भीतर/ घूमता है एक और शून्य पहिये की तरह/ मगर कहीं न जाता हुआ/ फिरकी के भीतर घूमती एक और फिरकी/ शैशव के किसी मेले की।'* लेकिन गौरतलब है कि तमाम हताशाओं के बावजूद वीरेन उस उम्मीद को कभी ओझल नहीं होने देते जो यह मानती है कि *'आदमी कमबख़्त का सानी नहीं है/फोड़कर दीवार कारागार की इंसाफ़ की खातिर/तलहटी तक ढूँढ़ता है स्वयं अपनी राह।'* अपने जहाज़ी बेटे के लिए लिखी गयी इस कविता 'उठा लंगर खोल इंजन' में वीरेन कहते हैं : *'हवाएँ रास्ता बतलायेंगी/ पता देगा अडिग रुख/ चम-चम-चमचमाता/ प्रेम अपना/ दिशा देगा/ नहीं होंगे जबकि हम तब भी हमेशा दिशा देगा/लिहाजा/ उठा लंगर खोल इंजन छोड़ बन्दरगाह।'*

गम्भीर बीमारी और सर्जरी के बावजूद वीरेन ने लिखना जारी रखा और उनकी जो भी अब तक असंकलित कविताएँ हैं, वे दो बदलावों का संकेत करती हैं : वे संवेदना और अनुभव के उन स्रोतों की ओर मुड़ रहे थे जिनमें या तो स्थानीयता और कुछ 'पहाड़ीपन' था या जिनसे 'रामसिंह' जैसी जुझारू कविता सम्भव हुई थी, और शिल्प के स्तर पर भी वे उस रास्ते को अपना रहे थे जिसका ज़िक्र उन्होंने पिछले संग्रह में किया था : *'इसीलिए एक अलग रस्ता पकड़ा मैंने/ फितूर सरीखा एक पक्का यकीन।'* एक लम्बी नाटकीय रचना 'परिकल्पित कथालोकान्तर काव्य-नाटिका नौरात शिवदास और सिरीभोग वगैरह' ख़ास तौर से ध्यान खींचती है जो लोक-कथा की शक्ल में एक प्रतिभाशाली दलित ढोल-कलाकार और एक रानी के प्रेम सम्बन्धों और राजा द्वारा उसकी हत्या के षड्यन्त्र के इर्दगिर्द बुनी गयी है, लेकिन ख़ास बात यह है कि सोने की तलवार से मारे जाने से पहले ही ढोलवादक राजा को पीटकर फरार हो जाता है। इस घटना के वर्षों बाद उस वादक का पोता शिवदास कथा के प्रसंग में एक नया गीत जोड़ता हुआ एक बड़े संघर्ष का आवाहन करता है :

*राज्जों, वजीरों का, शास्त्रों-पुराणों का नाश हो*
*जिन्होंने हमें ग़ुलाम बनाया*
*इन तैंतीस करोड़ देवताओं का नाश हो*
*जो अपनी आत्मा जमाये बैठे हैं*
*हिमालय की बर्फीली चोटियों में*
*किसने सताया तुम्हें-हमें*
*इन पोथियों-पोथियारों, ताकतवालों ने*
*इनका नाश हो*

इस रास्ते पर आगे बढ़ते हुए वीरेन कविता के नये पड़ावों की ओर जा रहे थे, लेकिन असामयिक और दुखद मृत्यु ने उनके सफ़र को रोक दिया। उनकी आख़िरी कविताओं में यह एहसास विकल रूप में दिखता है हालाँकि उसके साथ उम्मीद का दामन भी नहीं छूटता : *'ये दिल मेरा ये कमबख़्त दिल/ डॉक्टर कहते हैं ये फिलहाल सिर्फ़ पैंतीस फ़ीसद काम कर रहा है/ मगर ये कूदता है शामी कबाब और आइसक्रीम खाता है/ भागता है/ शामिल होता है जुलूसों में धरनों पर बैठता है/ इंक़लाब ज़िन्दाबाद कहते हुए/ या कोई उम्दा कविता पढ़ते हुए अब भी भर लाता है/ इन दुर्बल आँखों में आँसू/ दोस्तो-साथियो मुझे छोडना मत कभी/ कुछ नहीं तो मैं तुम लोगों को देखा करूँगा प्यार से/ दरी पर सबसे पीछे दीवार से सटकर बैठा।'* इसी नाउम्मीद सी उम्मीद के भीतर वीरेन मौजूदा देश-समाज का जायज़ा लेने से नहीं चूकते : *'हमलावर बढ़े चले आ रहे हैं हर कोने से/ पंजर दबता जाता है उनके बोझे से/ मन आशंकित होता है तुम्हारे भविष्य के लिए/ ओ मेरी मातृभूमि ओ मेरी प्रिया/ कभी बतला भी न पाया कि कितना प्यार करता हूँ तुमसे मैं।'* यह गौरतलब है कि वैचारिक प्रतिबद्धता और जनता के संघर्षों पर विश्वास वीरेन डंगवाल की कविता और व्यक्तित्व में अन्त तक बने रहे और उनकी आरम्भिक प्रस्थापना की ताईद करते रहे : *'एक कवि और कर भी क्या सकता है/ सही बने रहने के अलावा।'* यह आकस्मिक नहीं है कि रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध कविता का 'रामदास' वीरेन के आख़िरी दौर में अस्पताल में असाध्य बीमार पड़े हुए 'रामदास-2' के रूप में लौट आता है।

**(शेष पेज 50 पर)**

सामयिकी

# पूँजी की हवस और लुटते-कटते जंगल

**अनन्त**

मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल से लगभग 230 किलोमीटर उत्तर-पूर्व, बुन्देलखण्ड क्षेत्र के, छतरपुर ज़िले में स्थित है बक्सवाहा जंगल। बुन्देलखण्ड भारत का वह क्षेत्र है जो गहन सूखे की समस्या के कारण मीडिया में सुर्खियाँ प्राप्त करता रहता है। इसी क्षेत्र के संरक्षित बक्सवाहा जंगल का 382.131 हेक्टेयर हिस्सा एक हीरा परियोजना के नाम पर काटा जा रहा है। क़रीब तीन हज़ार हेक्टेयर इलाक़े में फैला यह जंगल कई तरह के वन्य जीवों और वनस्पतियों का निवास स्थान है। यहाँ खैर, बेल, धावा, सेजा, घोट, रेंझा, अमलतास और सागौन जैसे वृक्षों की प्रजातियाँ, तथा वन्य जीवन (संरक्षण) अधिनियम, 1972 की अनुसूची में सूचीबद्ध सात प्रजातियों भारतीय चिंकारा, चौसिंघा, सुस्त भालू, तेन्दुआ, गोह, भारतीय दुमदार गिद्ध और मयूर सहित अन्य वन्य जीवों की अच्छी-ख़ासी विविधता है। इसके अलावा यह आसपास के ग्रामीणों की आजीविका का मुख्य और एकमात्र साधन है। क्षेत्र के 17 आदिवासी गाँवों के लगभग 7,000 ग्रामीण अपनी आजीविका के लिए पूरी तरह से वन उत्पादों जैसे महुआ, तेन्दू पत्ते, चिरौंजी, आँवला आदि पर निर्भर हैं। यह देश का दिल कहे जाने वाले मध्यप्रदेश, जहाँ देश के कुल वन्य क्षेत्र आवरण का सबसे अधिक, क़रीब 11 फ़ीसदी हिस्सा है, की हरियाली का महत्त्वपूर्ण कारक है! लेकिन यह जंगल अब बहुत जल्द अपना अस्तित्व खोकर बीते ज़माने की दास्तान का हिस्सा बनने वाला है।

सदियों से खड़े इस जंगल पर पिछले दो दशकों से संकट के बादल छाये हुए हैं। जब से यहाँ हीरे के खान की जानकारी मिली है, तब से दुनिया भर के सरमायेदार इस ओर लपलपाती जीभ के साथ देख रहे हैं। मध्यप्रदेश में देश का 90 प्रतिशत हीरा उत्पादन होता है। छतरपुर विश्व प्रसिद्ध पन्ना खान के बगल में है। दावा किया जा रहा है कि बक्सवाहा के नीचे पन्ना खान से पन्द्रह गुना अधिक मात्रा में हीरा उत्खनन की सम्भावना है। लेकिन यह पर्यावरण, पारिस्थितिकी तन्त्र, वन, वन्यजीवन, गम्भीर जल संकट अदि के शर्त पर हासिल किया जाना है। बक्सवाहा के जंगल में हीरा उत्खनन के लिए बन्दर हीरा परियोजना की शुरुआत की गयी है। जिसके लिए मध्य प्रदेश सरकार ने 2006 में ही ऑस्ट्रेलियाई खनन दिग्गज रियो-टिण्टो को पूर्वेक्षण लाइसेंस दे दिया था। तभी से इस परियोजना का स्थानीय ग्रामीण आबादी के द्वारा विरोध जारी था। लोगों के निरन्तर विरोध के कारण 2016 में इस समूह को इस परियोजना से अपना हाथ पीछे खींचना पड़ा। असल योजना के तहत कुल बक्सवाहा जंगल का एक तिहाई के क़रीब हिस्सा काटा जाना था। कम्पनी के शुरुआती प्रस्ताव के मुताबिक़ खदान योजना 954 हेक्टेयर क्षेत्र में विस्तारित थी, जिसे भारतीय खान ब्यूरो (आईबीएम) ने सशर्त मंजूरी दे दी थी। लेकिन इस परियोजना को कड़े विरोध का सामना करना पड़ा और, 2016 में, सरकार ने इसकी अनुमति को रद्द कर दिया, फलस्वरूप, रिओ-टिण्टो को मैदान छोड़कर वापस जाना पड़ा।

उसके बाद नये सिरे से इसकी नीलामी की जानी थी, और पिछली बार के उठ खड़े हुए जन संघर्षों से सबक लेते हुए इस बार आवण्टित भूमि का दायरा घटा दिया गया। बन्दर हीरा खदान के लिए मध्य प्रदेश सरकार ने वर्ष 2019 में नयी बोलियाँ आमन्त्रित की। जिसमें पाँच कम्पनियों, बिड़ला समूह की एस्सेल माइनिंग, अदानी ग्रुप की चेण्डीपाड़ा कोलारी, वेदान्ता ग्रुप, सरकारी क्षेत्र की खनन कम्पनी नेशनल माइनिंग डेवलपमेण्ट कॉरपोरेशन और रूंगटा माइंस लिमिटेड ने भाग लिया था, तथा जिसे आदित्य बिड़ला समूह की कम्पनी एस्सेल माइनिंग एण्ड इण्डस्ट्रीज़ लिमिटेड (EMIL) ने अगले 50 सालों के लिए 55,000 करोड़ रुपये में जीता। किन्तु, पिछली बार से सबक लेते हुए इस बार खनन के लिये भूमि आवण्टन को घटा दिया गया। रियो-टिण्टो के समय खनन के लिए प्रस्तावित भूमि 954 हेक्टेयर थी, जो नयी नीलामी के समय घटकर मात्र 382 हेक्टेयर तक रह गयी है। इस परियोजना के लिये पेश की गये फॉरेस्ट क्लीयरेंस रिपोर्ट के मुताबिक़ खनन के लिये लीज़ पर दिये इलाक़े में 46 क़िस्म के पेड़ लगे हैं, जिनकी कुल संख्या 2,15,875 है। इसमें 7,106 महुआ, 36,652 तेन्दू, 22,990 बेल और 37,334 सागौन आदि के पेड़ लगे हैं। जो सीधे स्थानीय आबादी की आजीविका का साधन हैं। इन सबको काटा जाना है। यह महज़ सरकारी खानापूर्ति के लिए पेश किया गया कागज़ी आँकड़ा है, किन्तु असलियत यह है कि इससे कहीं अधिक पेड़ काटे जायेंगे। इस योजना ने एक समृद्ध वन क्षेत्र तथा पास के पन्ना टाइगर रिजर्व और नौरादेही वन्यजीव अभयारण्य के बीच एक बाघ गलियारे को भी ख़तरे में डाल दिया है।

इसके साथ ही इस परियोजना से सबसे बड़ा संकट पानी का होने वाला है। बुन्देलखण्ड पहले से ही पिछले कुछ वर्षों से भीषण जल संकट का सामना कर रहा है, ऐसे में यह परियोजना एक ख़तरे की घण्टी है। जंगल के कटने से सीधा भू-जल कोष पर प्रभाव पड़ेगा। जंगल के कटने से वहाँ मौजूद प्राकृतिक नाले तबाह होंगे और इसका असर बारिश के चक्र पर भी पड़ेगा। साथ ही वहाँ के जल संसाधनों का पूरा उपयोग हीरा उत्खनन में होगा। हीरा उत्खनन की प्रक्रिया में भारी मात्रा में पानी की आवश्यकता पड़ती है। खनन के लिए पहले पत्थर की शिलाओं को तोड़ा जाता है। उनके नीचे छोटे-छोटे मिट्टी से सने कंकड़ होते हैं, जिनमें हीरा मौजूद होने की सम्भावना होती है। पानी से इन कंकड़ों को धोया जाता है। इसके बाद एक साफ़ जगह पर इसे बिछाकर एक-एक कंकड़ को बारीकी से परखा जाता है, इसमें काँच जैसा चमकता पत्थर ढूँढा जाता है। एक हीरा ढूँढने में काफ़ी ज़्यादा मेहनत और पानी की खपत होती है। इसके लिए जंगल में मौजूद प्राकृतिक नाले के पानी का उपयोग किया जायेगा। प्री फिजिबिलिटी रिपोर्ट के मुताबिक़ इस परियोजना में खदान और अयस्क प्रसंस्करण संयन्त्र को लगभग 16,050 किलो लीटर प्रतिदिन (या 5.9 मिलियन घन मीटर प्रति

वर्ष) के हिसाब से पानी की ज़रूरत होगी। इसकी पूर्ति पास में बह रहे एक प्राकृतिक नाले के पानी से की जायेगी। इसके लिए नाले पर बाँध बनाया जायेगा। बाँध की क्षमता 17 मिलियन घन मीटर होगी जिसका उपयोग नाले में पानी कम होने की स्थिति में होगा। इतनी मात्रा में पानी का उपयोग चट्टानों के टुकड़ों को साफ़ करने में किया जायेगा ताकि उसमें हीरा खोजा जा सके। यह तब है जब सेण्ट्रल ग्राउण्ड वाटर अथॉरिटी ने छतरपुर के बक्सवाहा तहसील को पानी के मामले में सेमी-क्रिटिकल श्रेणी में रखा है। इस क्षेत्र में अवसादी विन्ध्य चट्टान हैं। यहाँ जल स्तर बहुत कम है, और क्षेत्र के सबसे गहरे नलकूप पहले से ही प्रति दिन केवल 20-50 घन मीटर पानी दे पाते हैं। ऐसे में इस परियोजना के कारण तबाह होने जा रहे जंगल की मौसमी जल धाराओं की अहमियत को समझ जा सकता है। जंगल के इन प्राकृतिक नालों में बारिश का पानी इकट्ठा होता है, जो खेती और भूजल पुनर्भरण का स्रोत हैं। और यही जल धाराएँ आगे चलकर बुन्देलखण्ड की जीवन रेखा बेतवा नदी में योगदान करती हैं।

इस परियोजना के नाम पर जंगलों को तबाह करने में शिवराज सिंह सरकार और कमलनाथ सरकार बराबर की साझेदार है। रिओ टिण्टो समूह के क़दम वापस लेने के बाद 2019 में नयी बोलियों के लिए पूँजीपति घरानों को न्योता देने का काम कमलनाथ सरकार ने किया। उसके बाद कोरोना संकट के समय का लाभ उठाकर इस योजना को रफ़्तार देने तथा तमाम औपचारिकताओं को ताक पर रखकर प्राकृतिक संसाधनों के भयंकर दोहन की खुली छूट देने का काम शिवराज सिंह सरकार कर रही है। इस परियोजना का स्थानीय स्तर से लेकर सोशल मीडिया के मंचों पर पुरज़ोर विरोध हो रहा है। स्थानीय आदिवासी आबादी के लिए यह जंगल महज़ आजीविका का साधन ही नहीं है, बल्कि उनकी संस्कृति का हिस्सा है। वे इसके काटे जाने के ख़िलाफ़ संघर्षरत हैं, लेकिन 2 जनवरी 2021 को छतरपुर के मुख्य वन संरक्षक (सीएफसी) द्वारा प्रस्तुत मूल्यांकन रिपोर्ट में दावा किया गया कि क्षेत्र के आदिवासी प्रस्तावित जंगल पर "निर्भर नहीं" थे और 'क्षेत्र में आदिवासियों के किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी गयी है'। एक मीडिया संस्थान से बात करते हुए जिला वन अधिकारी (डीएफओ) ने कहा कि वे नियमित रूप से जंगल और आदिवासी गाँवों का दौरा करते हैं। आदिवासियों ने परियोजना को लेकर कोई नाराजगी नहीं दिखायी है। बल्कि उन्हें इस बात की खुशी है कि खदानें उनके लिए रोज़गार के अवसर लेकर आयेंगी। औपचारिक तौर पर वन विभाग को ऐसे किसी मामले में सम्बन्धित या प्रभावित पक्षों की पूरी स्थिति पेश करनी होती है। किसी भी प्रकार की आपत्ति पर एक प्रक्रिया में सुनवाई की जाती है। किन्तु, यहाँ सरकारी रिपोर्टों से आम लोगों के प्रदर्शन पूरी तरह से ग़ायब हैं। यही नहीं लोगों के प्रदर्शन के बारे में पूछने पर बक्सवाहा से क़रीब 50 किलोमीटर की दूरी पर स्थित बड़ा मल्हारा से भारतीय जनता पार्टी के विधायक प्रद्युम्न सिंह ने कहा कि प्रदर्शनकारी "मानसिक रूप से बीमार" और "निराश" लोग हैं और जो "कोई विकास नहीं" चाहते हैं। मौजूदा सरकार कोरोना पाबन्दियों का लाभ उठाकर, इस योजना को जल्द से जल्द अंजाम तक पहुँचाना चाहती है।

सूखाग्रस्त बुन्देलखण्ड क्षेत्र में यह पहली बार नहीं है, जब इतने बड़े पैमाने पर पेड़ों को काटा जा रहा है। पहले ही यहाँ केन-बेतवा नदी को जोड़ने की परियोजना के लिए 23 लाख पेड़ों को काटे जाने की योजना है, और वहीं बुन्देलखण्ड एक्सप्रेस वे के लिए अब तक 19 लाख पेड़ काटे जा चुके हैं। स्थानीय सामाजिक कार्यकर्ताओं का मानना है कि यह आँकड़ा वास्तविकता से काफ़ी कम है। पूरे देश स्तर पर जब-तब जंगलों को साफ़ किया जाता रहा है। अरे के जंगल से लेकर, अरावली, वेस्टर्न घाट सब पूँजी की सेवा में काटे जा रहे हैं। मोदी सरकार की अतिमहत्वाकांक्षी बुलेट ट्रेन परियोजना से लेकर नये-नये हाईवे बनाने, "विकास" की सम्भावनाओं को तलाशने के नाम पर जंगलों को काटा जा रहा है। आधिकारिक आँकड़ा बतलाता है कि बीते तीन दशकों में 23,716 औद्योगिक परियोजनाओं के लिए चौदह हज़ार वर्ग किलोमीटर जंगल साफ़ किये गये, जिसमें सबसे अधिक खनन (4,947 वर्ग किमी) और उसके बाद रक्षा (1,549 वर्ग किमी) परियोजनाओं के लिए ऐसा किया गया। साथ ही इसी अन्तराल में क़रीब पन्द्रह हज़ार वर्ग किलोमीटर जंगल अतिक्रमण की भेंट चढ़ गया। सरकार ने 2016 में संसद को बताया था कि वर्तमान में, रक्षा परियोजनाओं, बाँधों, खनन, बिजली संयन्त्रों, उद्योगों और सड़कों सहित "गैर-वानिकी गतिविधियों" के लिए हर साल 25,000 हेक्टेयर - 250 वर्ग किमी - वन को सौंप दिया जाता है। किन्तु ये आँकड़े असल तस्वीर को बयां नहीं करते हैं। असल में जंगलों की हानि इससे कहीं अधिक है। इसका अन्दाज़ा भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलुरु के एक अध्ययन से लगाया जा सकता है। जिसके अनुसार पिछले दशक में उत्तरी, मध्य, और दक्षिणी पश्चिमी घाटों में घने वन क्षेत्रों में क्रमशः 2.84 प्रतिशत, 4.38 प्रतिशत तथा 5.77 प्रतिशत की कमी आयी है। दुनिया भर में उष्णकटिबन्धीय जंगलों को 2020 में ख़तरनाक दर से नष्ट कर दिया गया था। भारत ने 2019 और 2020 के बीच उष्णकटिबन्धीय जंगल के लगभग 38.5 हजार हेक्टेयर को खो दिया, जिससे इसके वृक्षों के कवर का लगभग 14 प्रतिशत नुकसान हुआ। इस बीच, भारत में कुल उष्णकटिबन्धीय वन क्षेत्र में 0.38 प्रतिशत की गिरावट आयी है। जबकि, बीते एक दशक की बात करें तो देश में 223 हज़ार हेक्टेयर उष्णकटिबन्धीय वन के नष्ट किये जाने के कारण वन आवरण में 16 प्रतिशत की कमी आयी है।

इण्डिया स्टेट ऑफ़ फ़ॉरेस्ट रिपोर्ट (ISFR) 2019, के मुताबिक़ भारत में कुल वन और वृक्षों का आवरण 8,07,276 वर्ग किलोमीटर है, जो कुल भौगोलिक क्षेत्र का मात्र 24.56 प्रतिशत है। पर्यावरण, वन और जलवायु परिवर्तन मन्त्रालय के मातहत भारतीय वन सर्वेक्षण 1987 से द्विवार्षिक आधार पर देश के वन और वृक्ष संसाधनों का आकलन कर रहा है। मूल्यांकन के परिणाम आईएसएफ़आर में प्रकाशित होते हैं। आईएसएफ़आर 2017 के अनुसार, कुल वन और वृक्ष आवरण 24.39 प्रतिशत था। यानी 2017 से 2019 के दरम्यान सरकार का दावा है कि 0.17 प्रतिशत क्षेत्रफल पर वन और वृक्ष आवरण की वृद्धि हुई है। अव्वलन, यह आँकड़ा ख़ुद सरकार के तय मानकों से कहीं पीछे है, देश की वन नीति ने कुल भौगोलिक क्षेत्र के पहाड़ी क्षेत्रों में 67 प्रतिशत तथा मैदानी क्षेत्रों में 33 प्रतिशत पर वन और वृक्ष आच्छादन को लक्षित किया है।

दूसरा, एक स्वतन्त्र निकाय के आँकड़े सरकार के पेश किये गये आँकडों से मेल नहीं खाते, अलबत्ता इसके उलट कहानी बयां करते हैं। 'ग्लोबल फॉरेस्ट वॉच', एक विश्वव्यापी मंच है जो 'विश्व संसाधन संस्थान' की पहल है, और उसके एक हिस्से के तौर पर

वनों की निगरानी तथा विश्व स्तर पर बदलते पैटर्न पर जानकारी प्रदान करता है। इसके मुताबिक़ इस अवधि में देश भर में वृक्षों के आवरण में 0.67 प्रतिशत की कमी दर्ज की गयी है।

2020 की शुरुआत मोदी के द्वारा पहले कोरोना महामारी की अनदेखी करने के साथ, फिर उसके बाद मार्च के महीने में आनन-फ़ानन में लॉकडाउन लगाने के साथ हुई। मोदी ने "राष्ट्र के नाम सम्बोधन" के नाम पर एक गुरुमन्त्र दिया, आपदा में अवसर। तमाम चोरों, लुटेरों, मुनाफ़ाखोरों के साथ-साथ मोदी सरकार के उस समय के पर्यावरण, वन और जलवायु परिवर्तन मन्त्रालय और मन्त्री प्रकाश जावड़ेकर ने इसका सही तात्पर्य समझा। लॉकडाउन के दरम्यान जब तमाम दफ़्तर और विभाग बन्द थे, तब इसका सही फ़ायदा उठाते हुए गुप-चुप तरीके से, आनन-फ़ानन में की गयी कई बैठकों में, तमाम औपचारिकताओं को ताक पर रखकर, मन्त्री महोदय ने धड़ाधड़ वन और पर्यावरण विरोधी मंजूरियाँ दे डाली। लॉकडाउन में वर्चुअल ढंग से आयोजित की गयी इन बैठकों तथा सरकार के तरीक़े और मंशा पर कई वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों ने सवाल उठाया था। किन्तु पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस के रास्ते में किसी भी क़िस्म की बाधा हटाने के लिए मुस्तैद मोदी सरकार लगातार वन पर्यावरण को नष्ट करने वाले निर्णय और आदेश देती रही। "निर्बाध आर्थिक विकास" के नाम पर असल में पूँजीपति वर्ग के हाथों प्रकृति का अभूतपूर्व दोहन किया जा रहा है।

प्रकाश जावड़ेकर की अध्यक्षता में नेशनल बोर्ड फॉर वाइल्ड लाइफ़ की स्थायी समिति की 57वीं बैठक 7 अप्रैल, 2020 को वीडियो कॉन्फ्रेंस के माध्यम से आयोजित की गयी थी। इस बैठक में 15 बाघ अभयारण्यों, अधिसूचित इको-सेंसिटिव जोन, डीम्ड इको-सेंसिटिव जोन और नामित वन्यजीव गलियारों को प्रभावित करने वाले 36 प्रस्तावों के लिए निर्णय और मंजूरी दी गयी। सरकार की हड़बड़ी का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि स्थायी समिति की बैठक जो अमूमन कम से कम एक दिन की होती थी, उसे महज़ दो घण्टे में निपटा दिया गया। जिन परियोजनाओं को मंजूरी दी गयी उन पर अधिकतम दस मिनट का समय दिया गया। परियोजनाओं के मंजूरी देने से पहले समिति के सामने प्रस्तुत जानकारी के सत्यापन के लिए परियोजना स्थल का दौरा करना, दस्तावेज़ों और रिपोर्टों की वैधानिकता की जाँच करना, परियोजनाओं से प्रभावित लोगों का पक्ष जानना आदि औपचारिकताओं को करना पड़ता है। किन्तु इन सारी औपचारिकताओं को कोई तरज़ीह दिये बिना मंजूरी दी गयी। वस्तुतः वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972, जिसके तहत बोर्ड कार्य करता है, में वीडियो कान्फ्रेंसिंग के ज़रिये बैठकों का प्रावधान नहीं है। यही नहीं, पर्यावरण मंजूरी को नियन्त्रित करने वाले किसी भी क़ानून में वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग के प्रावधान नहीं हैं, बल्कि पर्यावरणीय प्रभाव आकलन अधिसूचना के लिए परियोजना रिपोर्ट और मानचित्रों की हार्ड कॉपी अनिवार्य है।

इन परियोजनाओं में अरुणाचल प्रदेश के देबांग की पारिस्थितिक और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध घाटी में निजी क्षेत्र की एटालिन पनबिजली परियोजना समेत असम में देहिंग पटकाई हाथी रिजर्व में एक कोयला खनन, गोवा में भगवान महावीर वन्यजीव अभयारण्य के बीच से एक राजमार्ग, गिर राष्ट्रीय उद्यान के पर्यावरण के प्रति संवेदनशील क्षेत्र में एक चूना पत्थर की खान, कर्नाटक के शरवती मकाक अभयारण्य में एक भू-तकनीकी जाँच, असम में नुमालीगढ़ तेल रिफाइनरी का तीन गुना विस्तार, तालाबीरा, ओडिशा में कोयला बिजली संयन्त्र, तेलंगाना में अमराबाद बाघ अभयारण्य में यूरेनियम खनन आदि का प्रस्ताव शामिल है। ये प्रस्ताव 15 बाघ अभयारण्यों, अभयारण्यों, पर्यावरण के प्रति संवेदनशील क्षेत्रों, वन्यजीव गलियारों और अन्य वन क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं। इनमे से महज़ दस परियोजनाओं के लिए ही दस हज़ार हेक्टेयर जंगल साफ़ किये जायेंगे।

अकेले अरुणाचल प्रदेश के एटालिन परियोजना के लिए क़रीब तीन लाख पेड़ों को काटा जायेगा। यह परियोजना जिसके लिए कम से कम सात वर्ष का अनुमानित समय प्रस्तावित है, वह पूरी देबांग घाटी को तहस-नहस करके रख देगी। जिस भूमि पर यह परियोजना प्रस्तावित है, वहाँ नदी किनारे विकसित प्राचीन जंगल हैं, जिसके काटे जाने की कोई भरपाई नहीं की जा सकती। इस परियोजना का असर अरुणाचल प्रदेश की जैव विविधता पर पड़ेगा। पश्चिमी घाट के जंगल भी संकट में हैं। यहाँ दिसम्बर 2019 में नवगठित राज्य वन्यजीव सलाहकार बोर्ड ने एक ट्रांसमिशन लाइन और एक राजमार्ग विस्तार समेत कई निर्माण परियोजनाओं को प्रस्तावित किया। इनमें से दो परियोजनाएँ - ट्रांसमिशन लाइन और हाईवे, जिसके लिए कम से कम 91 हेक्टेयर जंगल की कटाई की आवश्यकता होगी - को लॉकडाउन के दौरान मंजूरी दे दी गयी थी। ये दोनों परियोजनाएँ भगवान महावीर वन्यजीव अभयारण्य को प्रभावित करेंगे, जो पश्चिमी घाट के बीच में शानदार दूधसागर झरनों और समृद्ध जैव विविधता वाले सदाबहार जंगलों के लिए जाना जाता है। जनवरी 2019 में सुप्रीम कोर्ट ने असम के नुमालीगढ़ के तेल रिफाइनरी की चारदीवारी को ध्वस्त करने का आदेश दिया था, क्योंकि यह एक हाथी गलियारे को अवरुद्ध कर रहा था। अब पेश किये गये प्रस्तावों में इसे तीन गुना विस्तार किये जाने की योजना है। ओडिशा के सम्बलपुर ज़िले के तालाबीरा में दिसम्बर 2019 में स्थानीय ग्रामीणों के पुरज़ोर विरोध के बावजूद कोयले की खान के लिए 40,000 पेड़ काटे जा चुके थे। वहाँ नयी योजना के मुताबिक़ खान का विस्तार किया जाना है, और उसके लिए अभी और पेड़ों को काटा जाना है।

ये लुटते-कटते जंगल आम तौर पर पूरी "मानवजाति" की गतिविधि का नतीजा नहीं है। जैसी कि प्रचलित धारणा है, या बनायी जाती है, कि 'मनुष्य प्रकृति का शत्रु बन बैठा है' या 'विकास विनाश के दरवाज़े खोलता है' आदि कोरी बकवास है। असल में ये जुमले प्रकृति के विनाश के लिए ज़िम्मेदार इस व्यवस्था को कठघरे में खड़े करने से रोकते हैं, और सारा ठीकरा बराबरी से सभी के सर पर फोड़ दिया जाता है। जंगलों, नालों, नदियों आदि का तबाह बर्बाद किया जाना सत्तासीन पूँजीपति वर्ग, और उसके मुनाफ़े की हवस का नतीजा है। जंगल का काटा जाना आम तौर पर सभी के लिए हितकारी नहीं है, बल्कि चन्द मुट्ठीभर पूँजीपतियों के मुनाफ़े का प्रयोजन है। मुनाफ़ा आधारित पूँजीवादी उत्पादन प्रकृति पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों का मूल्यांकन नहीं करता है, उसके पुनःसृजन का कोई उद्यम नहीं करता है। पूँजीवाद प्रकृति का बर्बर दोहन करता है, जिसका खामियाज़ा न सिर्फ आम तौर पर सभी मनुष्यों को बल्कि समस्त प्राणी जगत को भुगतना पड़ता है।

विशेष लेख

# असम-मिज़ोरम विवाद के मूल कारण क्या हैं?

**शिवानी**

हाल में असम-मिज़ोरम के बीच सीमा-विवाद से जुड़ा हुआ घटनाक्रम काफ़ी सुर्ख़ियों में रहा। यह कोई पहली बार नहीं है जब असम और मिज़ोरम के बीच अन्तरराजीय सीमा को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ हो। इससे पहले भी दोनों राज्यों के बीच सीमा-निर्धारण को लेकर झगड़े और विवाद पैदा हुए हैं जिन्होंने कई बार काफ़ी उग्र रूप भी अख्तियार किये हैं। लेकिन इस बार इस विवाद के साथ हिंसा की जो वारदातें हुईं, उसमें स्वयं असम पुलिस और मिज़ोरम पुलिस शामिल थीं। यही कारण है कि आम तौर पर हाशिये पर रहने वाले उत्तर-पूर्वी राज्यों का वर्तमान मामला 'मुख्यधारा' में भी चर्चा का विषय बन गया। हालाँकि यह पूरी चर्चा ही सतही थी और इस विवाद के हर प्रकार के विश्लेषण में आम तौर पर ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव था और मुख्य राजनीतिक प्रश्नों की अनुपस्थिति थी। सच्चाई यह है कि राज्यों की सीमा से जुड़े ये विवाद केवल अ**सम और मिज़ोरम के बीच ही मौजूद नहीं हैं, बल्कि उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों के बीच भी इनको लेकर ख़ासा इख्तिलाफ़ हैं। उत्तर-पूर्वी राज्यों में इन तमाम सीमा-विवादों की जड़ वास्तव में इतिहास में मौजूद है जिसमें पहले औपनिवेशिक सत्ता और बाद में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राज्यसत्ता की दमनकारी व ग़ैर-जनवादी नीतियों और क़ौमी दमन की केन्द्रीय भूमिका है।**

इस बार असम-मिज़ोरम के बीच लम्बे समय से व्याप्त सीमा-विवाद ने तूल तब पकड़ा जब 26 जुलाई को मिज़ोरम पुलिस द्वारा राज्य सीमा पर गोलीबारी में 6 असम पुलिसकर्मियों की मौत हो गयी और 50 के क़रीब पुलिस अधिकारी व पुलिस कर्मी घायल हुए। इस हिंसा में एक नागरिक की मृत्यु भी हुई। हालाँकि मिज़ोरम का दावा था कि हमला पहले असम पुलिस की तरफ़ से हुआ था और उसने महज़ जवाबी कार्रवाई की थी। ग़ौरतलब है कि केन्द्रीय गृहमन्त्री अमित शाह की 25 जुलाई को शिलॉन्ग में उत्तर-पूर्वी राज्यों के मुख्यमन्त्रियों के साथ बैठक हुई थी जिसमें तमाम मसलों के साथ असम के मिज़ोरम, नगालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश और मेघालय के साथ सीमा-विवाद पर बातचीत भी शामिल थी। 26 जुलाई की घटना इस बैठक के बाद ही घटित हुई।

इस घटना के बाद असम के मुख्यमन्त्री हेमन्त बिस्व सरमा और मिज़ोरम के मुख्यमन्त्री ज़ोरामथंगा के बीच इन हिंसा की घटनाओं की ज़िम्मेदारी को लेकर काफ़ी बहस चली और आरोपों-प्रत्यारोपों का भी एक लम्बा सिलसिला चला। **मोदी सरकार के लिए यह शर्मिन्दगी पैदा करने वाली स्थिति थी। वजह यह है कि असम में भाजपा की सरकार है और मिज़ोरम में सत्तासीन मिज़ो नेशनल फ्रण्ट उत्तर-पूर्व लोकतान्त्रिक गठबन्धन (एनईडीए) का हिस्सा है, जिसका गठन भाजपा के नेतृत्व में 2016 में हुआ था** और जिसके संयोजक उस समय से ही असम के वर्तमान मुख्यमन्त्री हेमन्त बिस्व सरमा हैं।

बहरहाल, 26 जुलाई के इस घटनाक्रम के बाद दोनों राज्यों में स्थिति को "सामान्य" किये जाने के लिए 28 जुलाई को केन्द्रीय गृह सचिव के साथ असम और मिज़ोरम के राज्य गृह सचिवों की लम्बी वार्ता हुई जिसमें "आपसी बातचीत" से सीमा-विवाद का निपटारा करने पर सहमति बनायी गयी और राष्ट्रीय राजमार्ग 306 पर केन्द्रीय सुरक्षा बलों की तैनाती के निर्देश दिये गये। बावजूद इसके स्थिति गम्भीर ही बनी रही। असम सरकार ने अपने राज्य के लोगों के लिए यात्रा-सम्बन्धी निर्देश जारी करके उन्हें मिज़ोरम न जाने की हिदायत दी। असम पुलिस को निर्देश जारी किये गये कि मिज़ोरम से आने वाली हरेक गाड़ी की अन्तरराज्यीय चेक पोस्ट पर ग़ैर-क़ानूनी नशीले पदार्थों इत्यादि के लिए ठीक से जाँच की जाये और इसके बाद ही राज्य में आने की अनुमति दी जाये। असम ने मिज़ोरम को जाने वाला राष्ट्रीय राजमार्ग कुछ समय के लिए बन्द भी कर दिया था जिससे आवश्यक वस्तुओं, दवाओं आदि को मिज़ोरम पहुँचाने में दिक्क़त भी पेश आयी। यही नहीं, असम पुलिस द्वारा मिज़ोरम पुलिस और मिज़ोरम से राज्य सभा सदस्य के. वनलाल्वेना के ख़िलाफ़ प्राथमिकी भी दर्ज की गयी, तो वहीं मिज़ोरम पुलिस ने भी असम के मुख्यमन्त्री हेमन्त बिस्व सरमा और असम पुलिस के अन्य अधिकारियों के ख़िलाफ़ शिक़ायत दर्ज की। हालाँकि दोनों तरफ़ की इन शिक़ायतों को बाद में वापस ले लिया गया। इसके बाद गृह मन्त्री अमित शाह के "हस्तक्षेप" के बाद दोनों राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने एक साझा बयान जारी करके स्थिति को "सामान्य बनाने और तनाव को ख़त्म करने" की बात कही। लेकिन भाजपा के लिए तो स्थिति वाक़ई में क्लेशकर हो गयी थी।

### उत्तर-पूर्व में फ़ासीवादी-अन्धराष्ट्रवादी भाजपा का बढ़ता राजनीतिक दख़ल

**वास्तव में, 2016 में उत्तर-पूर्व लोकतान्त्रिक गठबन्धन (एनइडीए) के गठन के पीछे भाजपा की असली मंशा उत्तर-पूर्व में अपना राजनीतिक दख़ल बढ़ाना था और साथ ही उत्तर-पूर्व के "तनावग्रस्त" इलाक़ों के मुख्यभूमि भारत के साथ एकीकरण के प्रोजेक्ट को आगे बढ़ाना भी था जो वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि उत्तर-पूर्व में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा राष्ट्रीय दमन की नीति का ही हिस्सा है।** भारतीय राज्यसत्ता द्वारा उत्तर-पूर्व में बस रही तमाम क़ौमों और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के साथ किये गये ऐतिहासिक छल-कपट और वायदाख़िलाफ़ी की चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन जहाँ तक पूरे उत्तर-पूर्व में अपनी पकड़ बनाने का प्रश्न है तो भाजपा के लिए ऐसा करना इतना सुगम भी नहीं है। कुछ समझौतापरस्त घुटनाटेकू ताक़तों को छोड़ दिया जाये, जोकि अक्सर हर दमित

क़ौम में पायी ही जाती हैं, व्यापक आबादी में भारतीय राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ अपरिमित ऐतिहासिक नफ़रत मौजूद है और भारत से आज़ादी की चाहत प्रबल है। इस पूरे क्षेत्र में ही भारतीय हुक्मरानों की क़ौमी दमन की नीतियों की मुख़ालफ़त का एक लम्बा इतिहास भी मौजूद रहा है और वर्तमान में भाजपा की तमाम फ़ासीवादी व अन्धराष्ट्रवादी नीतियों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की भी मिसालें हैं।

**यह तथ्य भी यहाँ रेखांकित करना आवश्यक है कि भाजपा और संघ परिवार उत्तर-पूर्व में असम को हिन्दुत्व फ़ासीवाद की नयी प्रयोगशाला बनाने के लिए काफ़ी ज़ोर लगा रहे हैं।** असम में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति को इसी उद्देश्य से भाजपा कभी एक तो कभी दूसरे रास्ते से लगातार अमल में ला रही है। जहाँ तक असम का प्रश्न है तो पिछले साल सीएए-एनआरसी का शिगूफ़ा भी इसी मक़सद से उछाला गया था, हालाँकि असम में उसका विरोध अन्य कारणों से हुआ था और विरोध का स्वरुप पहले से मौजूद "स्थानीय बनाम प्रवासी" की अस्मितावादी राजनीति ने ले लिया था।

हाल में ही असम की भाजपा सरकार द्वारा भी "जनसंख्या नियन्त्रण" के नाम पर अन्य भाजपा-शासित प्रदेशों की तर्ज़ पर ही मुसलमान-विरोधी फ़ासीवादी फरमान जारी करने की शुरुआत कर दी गयी है। इसके अलावा, कुछ समय पहले ही असम पशु संरक्षण विधेयक, 2021 पारित किया गया जिसके चलते गोमांस की बिक्री पर आंशिक रोक लगना तय है। नये क़ानून के तहत राज्य में मवेशियों के वध, उपभोग और परिवहन को विनियमित करने के प्रावधान शामिल हैं। वास्तव में वर्तमान विधेयक और कुछ नहीं बल्कि 1951 के असम पशु संरक्षण क़ानून का 'अपग्रेडेड वर्जन' है। ग़ौरतलब है कि उस वक़्त कांग्रेस ने यह क़ानून बनाया था। क्या इसी तथ्य से ही कांग्रेस की धर्म-निरपेक्षता और फ़ासीवाद-विरोध के ढोल की पोल नहीं खुल जाती है? असम के मुख्यमन्त्री हेमन्त बिस्व सरमा ने दावा किया कि इस विधेयक के पीछे कोई ग़लत मंशा नहीं है और इससे तो असल में साम्प्रदायिक सद्भाव मज़बूत होगा! यही नहीं, इन महोदय के अनुसार साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने के लिए केवल हिन्दू ही ज़िम्मेदार क्यों हों, मुसलमानों को भी इसमें सहयोग करना चाहिए! नया क़ानून बन जाने पर किसी व्यक्ति के मवेशियों का वध करने पर रोक होगी, जब तक कि उसने किसी विशेष क्षेत्र के पंजीकृत पशु चिकित्सा अधिकारी द्वारा जारी आवश्यक प्रमाण पत्र प्राप्त नहीं किया हो। उचित दस्तावेज़ के अभाव में मवेशियों को एक ज़िले से दूसरे ज़िले और असम के बाहर परिवहन को भी अवैध बनाने के प्रावधान हैं। इस क़ानून के तहत सभी अपराध संज्ञेय और ग़ैर-ज़मानती होंगे। **इस क़ानून को लेकर उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों में काफ़ी असन्तोष है क्योंकि यह वहाँ के स्थानीय निवासियों के खान-पान की स्वतन्त्रता और संस्कृति पर सीधे-सीधे फ़ासीवादी हमला है।**

हम देख सकते हैं कि उत्तर-पूर्व में फ़ासीवादी गिरोह न सिर्फ भारतीय राज्य की पुरानी राष्ट्रीय दमन की नीति को ही आगे बढ़ा रहा है बल्कि असम के उदहारण से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भाजपा और संघ परिवार अपने राजनीतिक हस्तक्षेप के ज़रिये पूरे सामाजिक ताने-बाने में साम्प्रदायिक नफ़रत, हिदुत्ववादी कट्टरता और धर्मान्धता को भी फैलाने का भरपूर प्रयास कर रहे हैं और फिलहाल उन्हें असम में तो एक हद तक इसमें सफलता भी हासिल होती हुई नज़र आ रही है।

## असम-मिज़ोरम सीमा विवाद: उपनिवेशवाद की एक विरासत

दरअसल मिज़ोरम और असम के बीच 164.6 किलोमीटर लम्बी साझी सीमा है जिसमें मिज़ोरम के आइज़ोल, कोलासिब और मामित ज़िले और असम के कछार, हैलाकाण्डी और करीमगंज ज़िले आते हैं। दोनों ही राज्य 'इनर लाइन रिज़र्व फ़ॉरेस्ट' के लगभग 1,318.31 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर अपना दावा पेश करते हैं जिसके कारण किसी भी तात्कालिक टकराहट की घटना के पैदा होने से सीमा को लेकर विवाद पुनः उत्पन्न हो जाता है। इस बार भी यही हुआ था।

**सतही तौर पर देखने पर असम-मिज़ोरम सीमा-विवाद के केन्द्र में मुख्य तौर पर औपनिवेशिक काल की दो अधिसूचनाएँ दिखलायी पड़ती हैं।** जहाँ मिज़ोरम ऐतिहासिक सीमा की बहाली के लिए 1875 की अधिसूचना का हिमायती है, वहीं असम ऐतिहासिक सीमा-निर्धारण के लिए 1933 की अधिसूचना का पक्षधर है। 1933 की अधिसूचना मणिपुर और लुशाई पहाड़ियों (जो कि मिज़ो पहाड़ियाँ भी कहलाती हैं) के बीच सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में है, जबकि 1875 की अधिसूचना भूतपूर्व लुशाई पहाड़ियों और कछार के मैदान के बीच सीमा-निर्धारण को तय करती है। मिज़ोरम का मानना है कि 1933 की अधिसूचना के समय उसकी रज़ामन्दी नहीं ली गयी थी। 1933 के बदले हुए सीमा-निर्धारण के पीछे एक कारण ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के असम के चाय-बाग़ानों से जुड़े आर्थिक-व्यावसायिक हित भी थे।

इसके अलावा, 1898 में औपनिवेशिक ब्रिटिश सत्ता ने 6 सितम्बर, 1895 की दो अलग उद्घोषणाओं के ज़रिये उत्तरी लुशाई पहाड़ियों को असम प्रान्त के अधीन कर दिया और दक्षिण लुशाई पहाड़ियों को बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत कर दिया। इसके बाद 1 अप्रैल, 1898 को ब्रिटिश सत्ता द्वारा एक अन्य उद्घोषणा के ज़रिये दक्षिणी लुशाई पहाड़ियों को असम को स्थानान्तरित कर दिया गया। **लुब्बेलुबाब यह कि लुशाई पहाड़ियों या नगा पहाड़ियों जैसे पहाड़ी इलाकों को, जिनमें विशिष्ट नृजातीय समूह रहते थे जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और जीवन-शैली थी, उन्हें स्थानीय लोगों की रज़ामन्दी के बग़ैर जबरन कभी एक प्रशासनिक इकाई तो कभी दूसरी प्रशासनिक इकाई में पटक दिया जाता रहा है, जिसके कारण एक असन्तोष औपनिवेशिक दौर से ही इन इलाक़ों में मौजूद है।**

आज़ादी के बाद संविधान के छठे शेड्यूल के अन्तर्गत भारत में तमाम "जनजातीय" इलाकों के प्रशासन के लिए उन्हें दो भागों में बाँटा गया था– भाग ए और भाग बी। 1952 में लुशाई पहाड़ियों के आइज़ोल और लुन्गलेह उपभागों, जिनमें कि मुख्यतः मिज़ो लोग बसे हुए थे, का गठन इसी छठे शेड्यूल के अन्तर्गत भूतपूर्व असम की 'लुशाई पहाड़ी स्वायत्त ज़िला काउंसिल' के तौर पर किया गया और 1953 में बाक़ी बचे हुए क्षेत्र में पावी, लखेर, चकमा आदि अन्य स्थानीय बाशिन्दों को मिलाकर एकक्षेत्रीय काउंसिल बनायी गयी। 1954 में लुशाई पहाड़ी ज़िले का नाम

बदलकर मिज़ो ज़िला कर दिया गया। 1972 में उत्तर-पूर्वी राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1971 के तहत असम में से ही पहले मिज़ो ज़िले को केन्द्र शासित प्रदेश ('यूनियन टेरिटरी') के रूप में गठित किया गया। 1986 में मिज़ो राष्ट्रीय फ्रण्ट, जो कि पहले भारतीय राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष में शामिल थी, और भारत सरकार के बीच मिज़ो समझौता क़ायम होने के फलस्वरूप मिज़ोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा 20 फरवरी, 1987 को प्राप्त हुआ।

**हालाँकि अलग राज्य गठन से राष्ट्रीय समस्या का कोई समाधान नहीं हुआ और दमित क़ौमों के सम्बन्ध में ऐसा हो भी नहीं सकता है जिनके लिए एकमात्र क्रान्तिकारी कार्यक्रम अलग होने के अधिकार समेत आत्म-निर्णय के अधिकार का ही होता है।** यहाँ यह भी स्पष्ट करते चलें कि संघवाद या किसी भी प्रकार की क्षेत्रीय स्वायत्ता की हिफ़ाज़त या माँग राष्ट्रीय दमन के ख़ात्मे का कार्यक्रम हो ही नहीं सकते हैं, जैसा कि पंजाब के कुछ "मार्क्सवादी" क़ौमवादी आजकल दावा करते फिर रहे हैं। ऐसा कोई भी कार्यक्रम एक शुद्धतः सुधारवादी कार्यक्रम है और लेनिनवादी कार्यदिशा से इसका कोई लेना-देना नहीं है।

**इस संक्षिप्त चर्चा के बाद यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि असम-मिज़ोरम के बीच यह आधुनिक सीमा-विवाद वास्तव में औपनिवेशिक दौर की ही एक विरासत है। जिसे भारत का उत्तर-पूर्व कहा जाता है, वह ऐतिहासिक तौर पर कभी भारत का हिस्सा था ही नहीं।** उत्तर-पूर्व के जनजातीय इलाक़े प्राक्-औपनिवेशिक भारत में शामिल नहीं थे। यदि हम इतिहास में थोड़ा पीछे जायें तो हम पाते हैं कि 1818 में उस वक़्त ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हस्तक्षेप उत्तर-पूर्व में शुरू हो गया जब अहोम साम्राज्य के राजा ने बर्मा से बारम्बार होने वाले हमलों से निपटने के लिए उससे मदद माँगी। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रथम एंग्लो-बर्मी युद्ध में बर्मी सेना को परास्त किया जिसके चलते याण्डाबु की सन्धि अमल में आयी। इस सन्धि के अन्तर्गत अहोम राजा ने अपने राज्य क्षेत्र का एक हिस्सा ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को तोहफ़े में भेंट किया जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश उपनिवेशवाद उत्तर-पूर्व में अपने अधिकार और हित क़ायम करने में सफल हो गया।

इसके पश्चात् ही ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने अपने प्रशासनिक हितों के मद्देनज़र इस पूरे भौगोलिक भू-भाग को भारत में शामिल किया था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी इस क्षेत्र के भूराजनीतिक और सामरिक महत्व को देखते हुए इसे भारत और चीन के बीच एक 'बफ़र रीजन' भी बनाना चाहते थे जिसे कि वे अपने आर्थिक-व्यापारिक हितों के मातहत रखते। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने पहले इस भू-भाग को बंगाल प्रान्त के अधीन रखा और 1874 में अलग असम प्रान्त का गठन करके भारत से इस पूरे क्षेत्र का राजनीतिक-प्रशासनिक एकीकरण किया। बावजूद इसके, मूलतः और मुख्यतः औपनिवेशिक नीति उत्तर-पूर्व के सम्बन्ध में शेष भारत से विलगाव और विलगन की ही थी जिसके फलस्वरूप यहाँ बसने वाली तमाम नृजातीय-जनजातीय समूहों के बीच भी अलगाव और पृथकत्व पैदा हुआ, जो कि स्वाभाविक ही था।

**ज़ाहिरा तौर पर उत्तर-पूर्व में ब्रिटिश हुकूमत की नीतियाँ अपने व्यावसायिक-आर्थिक हितों और राजकीय-प्रशासनिक सहूलियतों से संचालित थी।** उस दौर में मणिपुर और त्रिपुरा को छोड़कर, जो कि रियासतें थीं, बाक़ी पूरा उत्तर-पूर्व अविभाजित असम ही कहलाता था। असम के ही इन तमाम जनजातीय इलाकों की आगे चलकर ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा एक के बाद एक सीमा निर्धारित की जाने लगी जिसमें स्थानीय जनजातीय समूहों की सहमति नदारद थी और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। **स्पष्ट है कि ये क्षेत्रीय प्रशासनिक विभाजन न तो ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किये गये थे और न ही जनवादी तरीक़े से जन-आकांक्षाओं के आधार पर ही किये गये थे। यही कारण है कि आज भी असम से निकले अन्य राज्यों में भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध नफ़रत और गुस्सा तो है ही, लेकिन इसके साथ ही असमिया अन्धराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ भी एक नाराज़गी है, जिसे उत्तर-पूर्व की अन्य क़ौमें क्षेत्रीय पैमाने पर 'बिग ब्रदरली' बर्ताव के रूप में देखती हैं।**

संक्षेप में कहें तो, ब्रह्मपुत्र नदी का पूर्वी हिस्सा भू-राजनीतिक रूप से पहली बार भारत के उपनिवेशीकरण के बाद ही शेष भारत से जुड़ा। बावजूद इसके, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने उत्तर-पूर्व की जनता की शेष भारत की आबादी से पारस्परिक अन्तरक्रिया नहीं होने दी, बल्कि आम तौर पर उसे अवरुद्ध भी किया। इसकी वज़ह से भू-राजनीतिक दृष्टि से शेष भारत से जुड़ने के बावजूद इस क्षेत्र की जनता का सांस्कृतिक अलगाव बना रहा। आज़ादी के बाद भारतीय राज्यसत्ता की क़ौमी दमन की नीतियों के तहत ही इस क्षेत्र की प्राकृतिक व खनिज सम्पदा का दोहन करने के कारण इसमें आर्थिक शोषण का भी पहलू जुड़ गया जिसने इस अलगाव को और बढ़ाया और इसे राजनीतिक रूप प्रदान किया।

## उत्तर-पूर्व की क़ौमों के साथ भारतीय राज्यसत्ता के विश्वासघात का काला इतिहास

उत्तर-पूर्व में दमन की यह औपनिवेशिक विरासत भारतीय राज्यसत्ता को आज़ादी के बाद उत्तराधिकार में प्राप्त हुई जिसे यहाँ के शासक वर्गों ने हाथों-हाथ लिया। आज़ादी के बाद से ही उत्तर-पूर्व को भारत में शामिल करने पर काफ़ी विवाद उत्पन्न हुए। भारत के साथ एकीकरण कोई पूर्वविदित परिणाम नहीं था जैसा कि अक्सर इतिहास की आधिकारिक-सरकारी पुस्तकों में पढ़ाया जाता है। आज़ादी से पहले भी, विशेषकर नगा और मिज़ो नृजातीय समूहों में, भारत से अलग स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व की इच्छा प्रबल थी। हालाँकि जून 1947 में असम और उत्तर-पूर्व को भारत में शामिल करने का फैसला ले लिया गया।

**आज़ादी के बाद जो उत्तर-औपनिवेशिक शासक वर्ग अस्तित्व में आया वह एक बहुराष्ट्रीय और मिश्रित शासक वर्ग था जिसमें कश्मीर और उत्तर-पूर्व की दमित क़ौमों को छोड़कर बाक़ी सभी क़ौमों के बुर्जुआ वर्ग की अपने आकार और शक्तिमत्ता के हिसाब से नुमाइन्दगी थी और केन्द्रीय सत्ता में हिस्सेदारी थी। कश्मीर और उत्तर-पूर्व की क़ौमों को सच्चे और सही अर्थों में आत्म-निर्णय का अधिकार देने की बजाय भारतीय शासक वर्गों ने उनका जबरन भारत के साथ एकीकरण किया। कश्मीर के साथ ही उत्तर-पूर्व में भी**

**भारतीय राज्यसत्ता के आज़ादी के पिछले कई दशकों की नीतियों ने राजकीय हिंसा और क़ौमी दमन का बर्बर रूप इख़्तियार किया है।**

आज़ादी के बाद से ही उत्तर-पूर्व में राष्ट्रीय विविधताओं के साथ बस रही तमाम क़ौमों व नृजातीय समूहों की आज़ादी की चाहत को फ़ौजी बूटों और बन्दूक के ज़ोर के दम पर भारतीय हुक्मरानों ने कुचलने की सैंकड़ों कोशिशें की हैं। 1962 के भारत-चीन युद्ध के बाद तो भारतीय राज्य के लिए उत्तर-पूर्व और भी अधिक सामरिक महत्व का क्षेत्र बन गया और भारतीय राज्यसत्ता को यहाँ तमाम राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को "राष्ट्रीय सुरक्षा" के नाम पर कुचलने का 'लाइसेंस' भी प्राप्त हो गया। **इस पूरे क्षेत्र में 1958 से ही कुख्यात काला क़ानून 'सुरक्षा बल विशेष अधिकार अधिनियम' (आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट) लागू है** जिसकी वजह से चुनावों की रस्म अदायगी होने के बावजूद वहाँ व्यवहारतः सैन्य शासन की स्थिति है क्योंकि सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार प्राप्त हैं। इसी काले क़ानून का लाभ उठाकर भारतीय सेना और अर्धसैनिक बलों ने उत्तर-पूर्व में पिछले पाँच दशकों से आतंक का राज क़ायम किया हुआ है और राजकीय दमन और हिंसा का नंगा नाच मचाया है और इन राज्यों की आम जनता के मानवाधिकारों का बेशर्मी और दण्ड-मुक्ति के साथ हनन किया है। **ग़ौरतलब है कि मानवाधिकारों की धज्जियाँ उड़ाने वाला यह क़ानून पूरी तरह से संविधानसम्मत है!**

मुख्यभूमि भारत में उत्तर-पूर्व को लेकर काफ़ी हद तक गैरजानकारी और अज्ञानता भी व्याप्त है। जिसे आज भारत का उत्तर-पूर्व कहा जाता है, आज़ादी के वक़्त उस पूरे भू-भाग में भूतपूर्व असम प्रान्त के असम के मैदान आते थे। इसके अलावा पहाड़ी ज़िले, उत्तर-पूर्वी सीमावर्ती प्रदेश के नार्थ-ईस्टर्न फ्रण्टियर ट्रैक्ट्स (एनईएफ़टी) और मणिपुर और त्रिपुरा की रियासतें शामिल थीं। इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की संस्कृति और इतिहास में समानता और समरूपता के कुछ तत्व ज़रूर हैं, लेकिन उनमें कई विविधताएँ भी हैं। कुल आठ राज्यों, यानी कि असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, नगालैण्ड, सिक्किम में विभाजित उत्तर-पूर्व का क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्रफल का 7.98 फ़ीसदी और इसकी आबादी देश की कुल आबादी का 3.7 फ़ीसदी है। इस पूरे क्षेत्र में लगभग 220 नृजातीय समूह और उपसमूह रहते हैं और लगभग इतनी ही बोलियाँ बोली जाती हैं।

**औपनिवेशिक शासन के अन्तिम दौर में और आज़ादी के बाद राजकीय दमन से पैदा हुए राजनीतिक-सांस्कृतिक अलगाव और आर्थिक शोषण ने उत्तर-पूर्व की विभिन्न जनजातियों में प्रतिरोध की चेतना पैदा की जो एक ख़ास क़िस्म के नृजातीय राष्ट्रवाद (ethnic nationalism) के रूप में विकसित हुई।** भारतीय राज्यसत्ता द्वारा किये गये बर्बर दमन ने इस प्रतिरोध की चेतना को और भी प्रबल बनाया। नगा जैसी कुछ जनजातियाँ अपने कई उपसमूहों को मिलाकर एक राष्ट्र के रूप में विकसित हुईं, तो कुछ राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं के रूप में अस्तित्व में आयीं, जिनकी कोई क्षेत्रीयता तो नहीं थी लेकिन फिर भी अन्य राष्ट्रीय समूहों से भिन्नताएँ थीं। इन राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं के प्रतिरोध का साझा बिन्दु भारतीय राज्यसत्ता के दमन का विरोध था जो इनका साझा शत्रु था और आज भी है। हालाँकि इनमें आपसी अन्तरविरोधों का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। मसलन नगा-कुकी विवाद, नगा-मेइती विवाद, नगा-जोमी विवाद, असमी-मिज़ो विवाद, असमी-बोडो विवाद आदि।

**ब्रिटिश उपनिवेशवाद से आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने दमन की नीतियों को ख़त्म करने की बजाय और वहाँ बस रही क़ौमों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने की बजाय इन दमनात्मक कारगुज़ारियों को ज्यों-का-त्यों बरक़रार रखा बल्कि कई मामलों में उसमें इज़ाफ़ा भी किया।** आज़ादी के बाद उत्तर-पूर्व के राज्यों का जो पुनर्गठन किया गया उसका आधार महज़ प्रशासकीय सहूलियतें थीं जिसकी वजह से कई मामलों में एक ही जनजाति कई राज्यों में बँट गयी और जनजातियों की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ कुचल दी गयीं। इस क़िस्म के पुनर्गठन से नये विवाद भी उभरे, मसलन ग्रेटर नगालैण्ड विवाद, नगा-मणिपुर विवाद, असमी-बोडो विवाद आदि। मौजूदा असम-मिज़ोरम सीमा विवाद भी इसी की एक बानगी है।

राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया में नगालैण्ड को राज्य का दर्जा 1963 में मिला। लेकिन इसके बावजूद नगा ग्रुपों के कई राजनीतिक-प्रशासकीय इकाइयों में बँटे होने के कारण उनका असन्तोष बना रहा। 1972 में असम से खासी, गारो और जयन्तिया पहाड़ी ज़िलों को मिलाकर अलग मेघालय राज्य बना। त्रिपुरा और मणिपुर को, जो कि औपनिवेशिक काल के दौरान रियासतें थीं, पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। मिज़ो पहाड़ियों (मिज़ोरम) और 'नार्थ-ईस्टर्न फ्रण्टियर एजेन्सी' (अरुणाचल प्रदेश) को असम से अलग कर पहले केन्द्र शासित राज्य का दर्जा दिया गया फिर 1987 में इन्हें पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। हालाँकि राज्यों के इस पुनर्गठन की प्रक्रिया ने अलगाव और स्वतन्त्रता की आकांक्षा को तो समाप्त नहीं किया, उल्टे अन्य स्थानीय नृजातीय समूहों में भी स्वशासन या स्वतन्त्रता की आकांक्षा पैदा हुई और भूभागों पर दावों को लेकर आपस में उग्र टकरावों की शुरुआत हो गयी। इसकी एक मिसाल असम-मिज़ोरम सीमा विवाद भी है।

राजनीतिक-सांस्कृतिक अलगाव और आर्थिक शोषण के अतिरिक्त देश के भीतर से होने वाले आप्रवासन और बांग्लादेश समेत अनेक पड़ोसी देशों से होने वाले आप्रवासन से भी 'स्थानीय बनाम प्रवासी' का अन्तरविरोध पैदा हुआ। दरअसल, औपनिवेशिक काल से ही अविभाजित असम में उपनिवेशवादियों द्वारा चाय बाग़ानों की मौजूदगी के कारण एक हद तक आर्थिक विकास किया गया। यही कारण था कि उस दौर में भी पड़ोसी बंगाल प्रान्त और भारत के अन्य इलाक़ों से लोग रोज़गार और ज़मीन की तलाश में असम आप्रवासन करते थे। और चूँकि उपनिवेशवादियों को भी चाय-बाग़ानों में काम करने के लिए मज़दूरों की ज़रूरत थी, तो वह स्वयं भी बाहर से लोगों को काम के लिए बुलाते थे। साथ ही तेल और कोयला खदानों में भी कार्यशक्ति की आवश्यकता होती थी। इसके अलावा सड़क और रेल निर्माण कार्य में भी बाहर से मज़दूरों को काम पर लगाया जाता रहा। बंगाल से आने वाली एक बड़ी आबादी मुसलमानों की भी थी। इन प्रवासियों में कई, जो मुख्यतः चाय-बागानों में

काम करते थे, वे वहीं बस भी गये। इस पूरे विवरण के लिए पाठक मार्क्सवादी इतिहासकार अमलेन्दु गुहा को पढ़ सकते हैं जिनका काम असम और वहाँ के राष्ट्रवादी आन्दोलनों पर केन्द्रित है। यह आप्रवासन आज भी हो रहा है। इन प्रवासियों में अक्सर मज़दूर आबादी ही शामिल होती है। "स्थानीय बनाम प्रवासी" के अन्तरविरोध का फ़ायदा इन क़ौमों में मौजूद फ़िरकापरस्त ताक़तें भी अपने निहित स्वार्थों के लिए उठा रही हैं। सीमित संसाधनों और जनसांख्यिकीय असन्तुलन का हवाला देकर आम जनता में भय और असुरक्षाबोध पैदा किया गया है जो प्रवासियों के ख़िलाफ़ हिंसात्मक घटनाओं में सामने आया है। **ये इन राष्ट्रीय आन्दोलनों में अस्मितावादी व अन्धराष्ट्रवादी रुझान की ओर भी इशारा करता है और अन्ततोगत्वा हर प्रकार के राष्ट्रवाद की सीमा और प्रतिक्रियावादी चरित्र को भी उजागर करता है, भले ही वह दमित राष्ट्र का ही क्यों न हो। साथ ही, इस अन्तरविरोध का फ़ायदा भाजपा जैसी फ़ासीवादी पार्टी इसे मज़हबी रंग दे कर भी उठा रही है।**

बहरहाल, मूल चर्चा पर वापस लौटते हुए बात करें तो उत्तर-पूर्व के विभिन्न राज्यों के इतिहास पर निग़ाह डालने से भारतीय राज्यसत्ता का ऐतिहासिक विश्वासघात स्पष्ट रूप से सामने आता है। इसकी विस्तृत चर्चा में हम यहाँ नहीं जा सकते हैं लेकिन 'आह्वान' के आगामी अंकों में उत्तर-पूर्व में राष्ट्रीय प्रश्न के मसले पर हम तफ़सील से ज़रूर लिखेंगे। फ़िलहाल इतना कहना काफ़ी होगा कि उत्तर-पूर्व के तमाम राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं की आकांक्षाओं को कुचलकर ही भारतीय राज्यसत्ता ने ज़ोर-ज़बरदस्ती करके इन्हें "भारतीय राष्ट्र" में शामिल किया है।

मणिपुर की बात करें तो आज़ादी के तत्काल बाद ही भारत सरकार के प्रतिनिधि वी.पी. मेनन ने राज्य में बिगड़ती क़ानून-व्यवस्था का हवाला देकर मणिपुर के राजा बोधचन्द्र सिंह को शिलॉन्ग बुलाया और 21 सितम्बर, 1949 को कपटपूर्ण तरीक़े से उससे भारत में विलय के समझौते पर हस्ताक्षर करा लिया। भारत सरकार ने यह भी ज़रूरी नहीं समझा कि इस समझौते की अभिपुष्टि नवनिर्वाचित मणिपुर विधानसभा द्वारा करा ली जाये। उल्टे विधानसभा को भंग कर दिया गया। इसके बाद से ही मणिपुर में भारतीय राज्य द्वारा प्रत्यक्ष दमन की नीति अपनाकर प्रतिरोध को दबाने का सिलसिला शुरू हो गया और इसी के समान्तर सशस्त्र संघर्षों का भी सिलसिला शुरू हो गया। 'आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट' की आड़ में भारतीय सेना द्वारा की गयी बर्बरता ने जन-प्रतिरोध को और बल प्रदान किया। 2004 में भारतीय सैनिकों द्वारा एक मणिपुरी महिला मनोरमा के बलात्कार और हत्या के विरोध में वहाँ की महिलाओं ने निर्वस्त्र होकर सेना मुख्यालय के सामने विरोध प्रदर्शन किया था, जिससे पाठक ज़रूर वाक़िफ होंगे। यह घटना किसी भी जनवादी राज्य के लिए एक शर्मनाक घटना होती। लेकिन भारतीय राज्य की बेशर्मी और बर्बरता बदस्तूर जारी रही और उत्तर-पूर्व में 'आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट' (आफ्स्पा) आज़ तक लागू है।

नगालैण्ड की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। औपनिवेशिक शासन के दौरान और बीसवीं सदी की शुरुआत में नगा पहाड़ियों के स्थानीय निवासी नगा नेशनल काउंसिल (एन.एन.सी.) के बैनर तले एकजुट होकर एक साझा मातृभूमि और स्वशासन की आकांक्षा प्रकट करने लगे थे। भारत की आज़ादी के बाद नगा नेशनल काउंसिल ने आत्म-निर्णय के अधिकार की वक़ालत की और भारत से आज़ादी के लिए जनमत संग्रह की माँग भी रखी। लेकिन भारतीय राज्य ने एकतरफ़ा तरीक़े से नगा भूभाग को भारतीय गणराज्य का हिस्सा घोषित कर दिया। बदले में एन.एन.सी. ने नगालैण्ड की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और 1952 में सम्पन्न पहले आम चुनावों का बहिष्कार भी किया। इसके बाद ही भारत सरकार द्वारा कई नगा नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया और तब से ही नगालैण्ड में एक लम्बे सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत हुई। 1955 में भारतीय राज्य ने पुलिस और सशस्त्र बलों के ज़रिये नगा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को कुचलने की कोशिश भी की। इसी संघर्ष का सामना करने के लिए 1958 में 'आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पावर्स एक्ट' बना जो आज तक समूचे उत्तर-पूर्व में लागू है। 1975 में एन.एन.सी. के शीर्ष नेतृत्व ने भारत सरकार के साथ वार्ता करके शिलॉन्ग समझौता किया और भारतीय गणराज्य में शामिल होना स्वीकार किया। जिन नगा नेताओं ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया उन्होंने 'नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ नगालैण्ड' (एन.एस.सी.एन.) का गठन करके संघर्ष जारी रखा। अब यह संगठन मुइवा और खापलांग के दो गुटों में विभाजित है, जिनका आधार नगा जनजातीय समूह की अलग-अलग उपजातियों में है।

अब मिज़ोरम पर आते हैं। जैसा कि ऊपर चर्चा में आया था कि मिज़ो पहाड़ी क्षेत्र आज़ादी के वक़्त लुशाई पहाड़ी ज़िले के नाम से असम में गठित हुआ, जिसका नाम 1954 में बदलकर असम का मिज़ो पहाड़ी ज़िला कर दिया गया। असम से अलग होने का एक अलगाववादी आन्दोलन आज़ादी से पहले भी मिज़ो जनजातीय समूहों में मौजूद था। लेकिन 1959 से 61 तक आये अकाल के राहत कार्य में भारतीय राज्य की उदासीनता और अनदेखी के कारण पहले से ही मौजूद असन्तोष और आक्रोश को नयी ज़मीन प्राप्त हुई। इसके बाद ही साठ के दशक से मिज़ो सशस्त्र विद्रोह की दास्तान शुरू होती है। इसी दौर में मिज़ो नेशनल फ्रण्ट (एम.एन.एफ.) का गठन हुआ जिसने'भारतीय उपनिवेशवाद से मिज़ोरम की मुक्ति' के लिए सशस्त्र संघर्ष का आह्वान किया। फरवरी 1966 में सशस्त्र दस्तों ने आइज़ोल शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया। नगालैंड की ही तरह भारतीय राज्य ने यहाँ भी दमन की नीति को तत्काल अमल में लाया। शहर को फिर से क़ब्ज़ा करने के लिए भारतीय सेना ने नागरिक आबादी पर धुआँधार बमबारी की। हज़ारों परिवारों को उनके घरों से उजाड़ दिया गया। 1986 में एम.एन.एफ. और भारत सरकार के बीच समझौता हुआ जिसके बाद एम.एन.एफ. हिंसा छोड़कर "मुख्यधारा" में शामिल हो गया और भारतीय संविधान के अन्तर्गत काम करने पर सहमत हो गया। लेकिन इससे भारत के प्रति मिज़ोरम के नृजातीय समूहों का अलगाव और रोष ज़रा भी कम नहीं हुआ। आज भी वहाँ अलग-अलग नृजातीय समूहों के अपने-अपने सशस्त्र विद्रोही दस्ते हैं।

सिक्किम के इतिहास पर भी निग़ाह डालने पर स्पष्ट होता है कि आज़ादी के समय यानी 1947 से ही सिक्किम का दर्जा भारत के संरक्षित राज्य ('प्रोटेक्टोरेट') का था। वह भारतीय यूनियन का हिस्सा नहीं था। 1975 में बिना सिक्किम की जनता से रायशुमारी किये भारतीय संविधान में मौजूद प्रावधान के तहत उसे भारत में

मिला लिया गया और पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। जबकि उस वक़्त भी सिक्किम का शासक आत्म-निर्णय का अधिकार माँग रहा था, जिसे भारतीय राज्य द्वारा ख़ारिज कर दिया गया।

इस संक्षिप्त चर्चा से स्पष्ट हैं कि आज़ादी के बाद से ही भारतीय हुक्मरानों ने उत्तर-पूर्व के तमाम राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं के साथ छल-कपट करके, वायदाख़िलाफ़ी करके, दमन, राजकीय हिंसा और आतंक का अन्तहीन चक्र क़ायम करके उनकी आकांक्षाओं और हक़ों का गला घोंटने का घृणित कुकर्म किया है जिसे भारतीय राष्ट्रवाद के सड़े-गले मुलम्मे के ज़रिये छिपाना भी नामुमकिन जान पड़ता है।

**असम-मिज़ोरम सीमा-विवाद का हल उत्तर-पूर्व में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान से जुड़ा है!**

उत्तर-पूर्व के तमाम राज्यों में मौजूद आपसी सीमा-विवाद का निपटारा भी वहाँ के राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान से नाभिनालबद्ध है। वैसे तो किसी यूनियन में स्वेच्छा से शामिल हुई इकाइयों के बीच भी सीमा-निर्धारण को लेकर झगड़े-फ़साद होते रहते हैं। एक पूँजीवादी राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत आप और किसी बात की उम्मीद कर भी नहीं सकते हैं। राष्ट्रीय शान्ति या क़ौमी अमन जैसी कोई भी चीज़ पूँजीवाद के मातहत स्थायी तौर पर सम्भव ही नहीं है। लेकिन यह तमाम विवाद अपने आप में क़ौमी दमन नहीं होते हैं। जबकि उत्तर-पूर्व की बात करें तो ये तमाम सीमा-विवाद सीधे-सीधे भारतीय राज्य के क़ौमी दमन की नीति से ही पैदा हुए हैं और उसके अविभाज्य अंग हैं।

क़ौमी दमन का मतलब यह है कि भारतीय शासक वर्ग द्वारा उत्तर-पूर्व में मौजूद तमाम क़ौमों के पूँजीपति वर्ग समेत समूची क़ौम का ही दमन किया जा रहा हैं। **यानी क़ौमी दमन के निशाने पर मूलतः दमित क़ौम का पूँजीपति वर्ग होता है, जो दमन बाद में वृहद् रूप इख़्तियार कर जनता के अलग-अलग हिस्सों और जन-जीवन को भी अपनी ज़द में ले लेता है। किसी क़ौम के बुर्जुआ वर्ग के दमन के बग़ैर क़ौमी दमन अस्तित्व में आ ही नहीं सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी क़ौम दमित ही तब मानी जायेगी जबकि उसका पूँजीपति वर्ग दमित हो। आज भारत की बात करें तो, कश्मीर और उत्तर-पूर्व को छोड़कर यह स्थिति और कहीं मौजूद नहीं हैं।** क़ौम या राष्ट्र बनता ही बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व में आने के साथ है। यदि किसी क़ौम से पूँजीपति वर्ग को अलग कर दिया जाये तो उसके बाद जो रह जाता है वह बस जनता ही है। आज उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों में यह पूँजीपति वर्ग कितना विकसित या अविकसित है, इस तथ्य से वहाँ मौजूद राष्ट्रीय दमन पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता है।

इसलिए, उत्तर-पूर्व में तमाम राज्यों के बीच मौजूद सीमा-विवाद क़ौमी दमन का कारण नहीं बल्कि इसी क़ौमी दमन की नीति का एक परिणाम है। अलग से किसी देश के किन्हीं दो राज्यों, जिनमें कि दमित क़ौमें हैं और जबरन किसी यूनियन में शामिल की गयी हैं, के बीच सीमा-विवाद के हल की उम्मीद शासक वर्गों से, बिना वृहद् राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के करना ही बेमानी है। आज़ादी के बाद शुरुआती दशकों में तो भारत सरकार ने उत्तर-पूर्व के महत्व को केवल रणनीतिक दृष्टि से ही देखा था। लेकिन पूँजीवादी विकास के साथ ही प्राकृतिक सम्पदा और सस्ती श्रम शक्ति के दोहन की भी शुरुआत हुई। हालाँकि यहाँ बसने वाली क़ौमों में भारतीय राज्यसत्ता के प्रति नफ़रत और अलगाव में कोई कमी नहीं आयी है। किसी काल्पनिक एकाश्मी "भारत राष्ट्र" और भारतीय राष्ट्रवाद में इन क़ौमों का विलयन ज़ोर-ज़बरदस्ती के बूते ही सम्भव है। इसलिए आज भी इस पूरे भू-भाग में कई सशस्त्र संघर्ष चल रहे हैं। जब तक भारतीय राज्यसत्ता का राष्ट्रीय दमन और जबर जारी रहेगा, ये राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष भी विसर्जित नहीं होंगे। नेतृत्व की कोई एक धारा जब समर्पण करेगी तो दूसरी धारा उभरकर सामने आयेगी और संघर्ष को जारी रखेगी। राष्ट्रीय प्रश्न का अन्तिम और मुकम्मल समाधान तो केवल और केवल एक समाजवादी राज्य के तहत ही सम्भव है जो सही मायने में विभिन्न राष्ट्रों को अलग होने के अधिकार के समेत आत्म-निर्णय का अधिकार और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को सुसंगत जनवाद का अधिकार देता है।

इतिहास ने यह भी साबित किया है कि साम्राज्यवाद के दौर में दमनकारी राष्ट्र या राष्ट्रों के पूँजीपति वर्ग आम तौर पर दमित राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार और राष्ट्रीयताओं को सुसंगत जनवाद नहीं दे सकते। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि राष्ट्र केवल दमनकारी राष्ट्रों के अधिकार देने की वजह से मुक्त नहीं होते, वे अपने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ज़रिये भी मुक्त होते हैं। यह एक अलग चर्चा का विषय है कि उत्तर-पूर्व के विभिन्न राष्ट्रों का राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष यह राष्ट्रीय मुक्ति हासिल कर सकता है या नहीं, लेकिन इतना तय है कि जब तक इन दमित क़ौमों को राष्ट्रीय मुक्ति हासिल नहीं होती, तब तक शान्ति या स्थिरता की कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है। किसी भी क़ौम को हमेशा ग़ुलाम बनाकर नहीं रखा जा सकता है। यह बात भारत के उत्तर-पूर्व पर भी उतनी ही लागू होती है।

आज भारत में दमित क़ौमों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध मज़दूर वर्ग के समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष से जुड़ना होगा और भारत के मज़दूर वर्ग, आम मेहनतकश जनता और छात्रों-नौजवानों को भारत की दमित क़ौमों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष से ख़ुद को जोड़ते हुए उनके राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करना होगा। जहाँ एक तरफ़ तो भारत की मेहनतकश अवाम को हर प्रकार के राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और अन्धराष्ट्रवाद से अपना नाता तोड़ना होगा और भारतीय बुर्जुआ वर्ग के मण्डी में पैदा हुए राष्ट्रवाद की असलियत समझनी होगी, वहीं दूसरी तरफ़ दमित क़ौमों में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लड़ रही ताक़तों को भी यह समझना होगा कि हर प्रकार का बुर्जुआ राष्ट्रवाद और संकीर्ण अस्मितावाद या कट्टरतावाद किसी भी व्यापक और टिकाऊ जन-एकजुटता में बाधा है। भारत की मेहनतकश जनता इस संघर्ष में उनकी शत्रु नहीं, बल्कि दोस्त है। वास्तव में, भारतीय राज्यसत्ता और भारतीय पूँजीपति वर्ग ही हमारा मुश्तरका दुश्मन है, यह बात समझना बेहद ज़रूरी है। सच्चे और सही अर्थों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन भी सार्थक और कारगर तरीक़े से तभी आगे भी बढ़ सकते हैं।

•

# फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 व 35ए निरस्त किये जाने के दो साल
# भारतीय राज्य द्वारा कश्मीरी क़ौम के दमन के इस नये क़दम से क्या बदले हैं कश्मीर के सूरतेहाल?

**शिवानी कौल**

इस साल 5 अगस्त को मोदी सरकार द्वारा कश्मीर में अनुच्छेद 370 और 35ए को हटाये जाने के दो साल पूरे हो गये और साथ ही जम्मू-कश्मीर राज्य को तीन टुकड़ों में बाँटे जाने और केन्द्र शासित प्रदेश में तब्दील किये जाने के भी दो साल पूरे हो गये। भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीरी क़ौम से किये गये अनगिनत विश्वासघातों की लम्बी फेहरिस्त में 5 अगस्त, 2019 को तब एक नयी कड़ी जुड़ गयी थी जब केन्द्रीय गृह मन्त्री अमित शाह ने संसद में अनुच्छेद 370 और 35ए निरस्त करने की घोषणा की थी।

इस क़दम के तत्काल बाद ही कश्मीर को सैन्य छावनी में तब्दील कर दिया गया था और वहाँ दस लाख से ज़्यादा सैन्यकर्मियों की तैनाती कर दी गयी थी। लोगों को अपने ही घरों में क़ैद कर दिया गया था। हजारों कश्मीरियों को भारत की जेलों में ठूँस दिया गया क्योंकि कश्मीर की जेलों में जगह बची नहीं थी। राजनीतिक कार्यकर्ताओं, उद्यमियों, आम नागरिकों को नज़रबन्द या गिरफ़्तार कर दिया गया। यहाँ तक कि उन राजनीतिक प्रतिनिधियों और मुख्यधारा के कश्मीरी नेताओं को भी नहीं बख़्शा गया जो भारतीय शासकों के प्रति समझौतापरस्त और नर्म रुख़ रखते थे। इस दौरान कश्मीरी मीडिया को भी पूरी तरह से ब्लैक आउट कर दिया गया था। दर्जनों कश्मीरी पत्रकारों के ख़िलाफ़ यूएपीए के काले क़ानून के तहत फ़र्ज़ी मुकद्दमे लगाए गये। संचार के सभी माध्यम बन्द कर दिये गये, फ़ोन-मोबाइल-इण्टरनेट सेवाएँ बन्द कर दी गयीं। **पूरे कश्मीर को ही जेलखाने में तब्दील कर दिया गया। भारतीय मीडिया इसे कश्मीर में 'लॉकडाउन' की संज्ञा दे रहा था, जबकि यह लॉकडाउन नहीं, विशुद्ध क़ब्ज़ा है।**

हालाँकि कश्मीरियों के लिए दहशत के इस माहौल में नया कुछ नहीं था। कश्मीरी क़ौम की कई पीढ़ियाँ इसी माहौल में पैदा हुई हैं और पली-बढ़ी हैं। और न ही कश्मीरियों के लिए भारतीय राज्यसत्ता द्वारा की गयी यह धोखाधड़ी ही अप्रत्याशित थी। आज़ादी के बाद से ही और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस के समय से ही कश्मीरी क़ौम ने भारतीय राज्य के तमाम छल-कपट और वायदाख़िलाफ़ियाँ काफ़ी क़रीब से देखी हैं क्योंकि कश्मीरी क़ौम, उसकी आकांक्षाओं और आत्म-निर्णय के उसके अधिकार के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात की शुरुआत तो कांग्रेस के समय से ही हो गयी थी। **अनुच्छेद 370 को वास्तव में कमज़ोर और निष्प्रभावी बनाने की शुरुआत उसी दौर से हो चुकी थी, जिसे बाक़ी भारतीय हुक्मरानों द्वारा जारी रखा गया था और जिसे फ़ासीवादी मोदी सरकार ने शीर्ष पर पहुँचाकर अब तक के सारे रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिये।**

"दूध माँगोगे तो खीर देंगे, कश्मीर माँगोगे तो चीर देंगे" वाले अन्धराष्ट्रवादी और युद्धोन्मादी कोरस में शामिल होने से पहले आप थोड़ा ठहरकर सोचें कि लगातार डर, दहशत, राजकीय हिंसा के साये में जीना क्या होता है? चलिये एक बार को ज़रा कश्मीर के इस सूरतेहाल की तुलना पिछले साल कोरोना महामारी के समय मोदी सरकार द्वारा अचानक बिना किसी तैयारी के थोपे गये लॉकडाउन से करें। निस्संदेह, इस देश की आम मेहनतकश आबादी पर इस अनियोजित लॉकडाउन के कारण अकथनीय दुखों-तक़लीफ़ों का पहाड़ टूट पड़ा था। भारत के मध्य वर्ग के भी एक हिस्से को दिक्क़त-परेशानी तो पेश आयी ही थी। हाँ, बाक़ी खाते-पीते उच्च-मध्य वर्ग और धन-पशुओं की जमातों को लॉकडाउन से कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ा था। बस मॉल्स में ख़रीदारी करने, सिनेमा घरों में पिक्चर देखने, बाहर जाकर फैंसी रेस्टोरेण्ट्स में खाने पर ज़रूर कुछ वक़्त के लिए पाबन्दी लग गयी थी! लेकिन वह क़सर इण्टरनेट सेवाओं की मौजूदगी ने पूरी कर दी थी। 'नेटफ्लिक्स' और 'अमेज़न प्राइम' पर ऑनलाइन शोज़ की 'बिंज वाचिंग' करते हुए 'स्विगी' और 'ज़ोमैटो' से ऑनलाइन फ़ूड-डिलीवरी करवा कर घर बैठे ज़िन्दगी का लुत्फ़ तो उठाया ही जा सकता था, जो इस खाते-पीते वर्ग द्वारा भरपूर उठाया भी गया। जहाँ तक ख़रीदारी का सवाल था तो ऑनलाइन ब्राण्डेड कपड़े-जूते-फ़ोन वगैरह भी कुछ समय बाद मँगवाये जाने शुरू हो गये थे। यानी प्रधानमन्त्री मोदी के शब्दों में कहें तो इस वर्ग के लिए "सब चंगा सी"! लेकिन फिर भी भारत के ये विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग भी घर बैठे-बैठे उकता गये थे।

अब फ़र्ज़ करें की अगर इण्टरनेट की सुविधा लॉकडाउन के वक़्त मौजूद नहीं होती तो क्या होता? फ़ेसबुक-ट्विटर-इंस्टाग्राम की आभासी दुनिया में जीने वाली एक अच्छी-ख़ासी मध्यवर्गीय और उच्च मध्य-वर्गीय आबादी, एक़दम नंगे शब्दों में कहें, तो या तो पागल हो गयी होती या फिर अवसादग्रस्त! अब यह भी फ़र्ज़ करें कि अगर यह लॉकडाउन एक बेमियादी कर्फ्यू में तब्दील कर दिया गया होता तो क्या होता? **यह बात यहाँ इसलिए कही जा रही है ताकि भारतीय राष्ट्रवाद और कल्पित देशभक्ति की घुट्टी पीकर बड़ा हुआ भारत का मध्य-वर्ग यह समझ पाये**

**कि भारतीय राज्य का कश्मीर पर क़ब्ज़ा और कश्मीरियों पर क़हर और आंतक किसी दुस्वप्न से कम नहीं है और एक आम मध्यवर्गीय भारतीय के लिए अकल्पनीय है। हालाँकि भारत का मज़दूर वर्ग इसे ज़्यादा आसानी से समझ सकता है।**

एक आम कश्मीरी भयंकर हालातों में साल दर साल क़ैद करके रखा गया है, और तो और सभी बुनियादी सुविधाओं से महरूम रखकर। कश्मीरी कवि आग़ा शाहिद अली ने एक जगह लिखा था कि हर कश्मीरी अपने घर का पता अपनी जेब में रखकर चलता है, ताकि कम से कम उसकी लाश घर पहुँच जाये! यह है कश्मीर में ज़िन्दगी और मौत की हक़ीक़त! भारतीय सुरक्षा बलों द्वारा एनकाउण्टर किया जाना या अगवा कर लिया जाना, पेलेट बन्दूकों द्वारा नन्हे मासूम बच्चों को अन्धा बना दिया जाना, वर्षों तक जेलों में बिना किसी सुनवाई के सड़ने के लिए छोड़ दिया जाना, रात में किसी भी वक़्त घरों के दरवाजों पर दस्तक देकर "पूछताछ" के बहाने पुलिस कर्मियों और सैन्य बलों द्वारा उठा लिया जाना, यातनाओं के नये तरीक़ों के लिए 'गिनी पिग्स' की तरह इस्तेमाल किया जाना, सुरक्षा बलों द्वारा औरतों के साथ कुनान-पुश्पोरा जैसे सामूहिक बलात्कार के युद्ध अपराधों को अंजाम दिया जाना – कश्मीरी नौजवानों और आम कश्मीरियों की कितनी ही पीढ़ियाँ तो भारतीय राज्य का यही "सौम्य" और "मानवीय" चेहरा देखकर बड़ी हुई हैं! और फिर इसी आबादी को बताया जाता है कि अनुच्छेद 370 और 35ए हटाकर उसी का भला किया गया है!

आम तौर पर कश्मीर को लेकर भावुक होने वाला भारतीय मध्य-वर्ग ख़ुद नहीं जानता है कि कश्मीर के भारत के साथ सम्बन्ध का इतिहास और पृष्ठभूमि क्या है। अनुच्छेद 370 और 35ए वास्तव में कश्मीर के साथ भारत के साथ सम्बन्ध को परिभाषित करने वाली भारतीय संविधान की धारायें थीं। असल में अनुच्छेद 370 (जिसके तहत जम्मू-कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा और स्वायत्तता हासिल थी) और 35-ए (जो जम्मू-कश्मीर राज्य विधान मण्डल को यहाँ का 'स्थायी निवासी' (domicile) परिभाषित करके राज्य में उन्हें विशेषाधिकार प्रदान करने का हक़ देता था) के मोदी सरकार द्वारा 5 अगस्त 2019 को निरस्त किये जाने के साथ ही भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीरी जनता के साथ अब तक का सबसे बड़ा विश्वासघात किया गया जो 1948 के उस समझौते का सबसे नग्न क़िस्म का उल्लंघन है जिसके तहत कश्मीर ने भारत के साथ सशर्त विलय को स्वीकारा था। कश्मीरी क़ौम इसी शर्त पर भारत के साथ विलय को राज़ी थी कि उसकी स्वायत्तता बरक़रार रहेगी, उसका अपना संविधान और झण्डा होगा, उसके अपने क़ानून होंगे आदि। यानी इस विशेष स्थिति को ही अनुच्छेद 370 प्रकट करता था और भारत के साथ कश्मीर के रिश्तों को अभिव्यक्त करता था। अनुच्छेद 370 को रद्द करने के साथ ही कश्मीर का वह संविधान भी अपने आप ही रद्द हो गया। कश्मीर और भारत के बीच इस क़ानूनी क़रारनामे को एकतरफ़ा ढंग से रद्द करने के साथ ही सैद्धान्तिक तौर पर कश्मीर का भारतीय यूनियन में एकीकरण भी निष्प्रभावी हो गया। 26 अक्तूबर 1947 को जिन शर्तों पर भारत में कश्मीर का विलय हुआ था उनमें से कश्मीरी क़ौम से किया गया प्रमुख वायदा जनमत संग्रह या रायशुमारी (referendum/plebiscite) का था जिसे भारतीय राज्य ने कभी पूरा नहीं किया और दो साल पहले भाजपा सरकार ने उन्हीं शर्तों की बुनियाद को घनघोर निरंकुश तरीक़े से ख़ारिज कर दिया।

यह बात भी उतनी ही सच है कि कश्मीर के विशेष राज्य के दर्ज़े का कोई ज़्यादा मतलब लम्बे समय से नहीं रह गया था। इतिहास में कांग्रेस से लेकर मौजूदा फ़ासीवादी भाजपा तक की तमाम सरकारों ने राष्ट्रीय दमन की नीति को आगे बढ़ाते हुए हमेशा से कश्मीर के आत्म-निर्णय के अधिकार को फ़ौजी बूटों तले रौंदा और कश्मीरी जनता की आकांक्षाओं और नागरिक अधिकारों में वक़्त-ब-वक़्त सेंधमारी की और अधिकतर समय वहाँ की जनता के भविष्य पर अनिश्चितता की तलवार ही लटकती रही है। चुनाव की पूरी प्रक्रिया भी कश्मीरियों की नज़र में "लोकतन्त्र" के स्वांग से ज़्यादा कुछ नहीं है। लेकिन इसके बावजूद भी विशेष दर्ज़े का कुछ मतलब था क्योंकि जैसा कि हमने पहले भी बताया कि यही वे शर्तें थीं जो भारत से कश्मीर के सम्बन्ध को परिभाषित करती थीं। हालाँकि भारतीय राज्यसत्ता की कारगुज़ारियाँ कश्मीर की अवाम के अन्दर लगातार अविश्वास और अलगाव को बढ़ावा देने का काम करती रही हैं। आज कश्मीर में 7 नागरिकों के ऊपर एक सशस्त्र बल का जवान है और कश्मीर दुनिया भर में सबसे ज़्यादा सैन्यकृत क्षेत्र है।

अनुच्छेद 370 हटाने के पीछे मोदी सरकार का दावा था कि असल में यही कश्मीर में "दहशतगर्दी" की जड़ है। इसकी वजह से ही कश्मीर का आर्थिक और सामाजिक विकास रुका हुआ था। यह भी दावा किया गया था कि कश्मीर में इसके हटाये जाने के साथ ही स्थिरता आयेगी, आतंकवाद ख़त्म होगा, रोज़गार का सृजन होगा आदि आदि। लुब्बेलुबाब यह कि अब कश्मीर में दूध की नदियाँ बहेंगी! क्योंकि ख़ून की नदियाँ बहाकर फ़ासिस्टों और भारतीय हुक्मरानों को चैन नहीं पड़ा था!

कश्मीर के विशेष दर्ज़े को ख़त्म करने का वायदा मोदी सरकार ने अपने चुनाव घोषणापत्र में ही किया था। **दरअसल कश्मीर के बहाने नरेन्द्र मोदी और फ़ासीवादी भाजपा न सिर्फ़ अपनी राजनीतिक 'कांस्टिटुएन्सी' की तात्विक शक्तियों के समक्ष "हिन्दू हृदय सम्राट" की मिथ्या छवि को सुदृढ़ करने की कोशिश में हैं बल्कि पूरे देश में ही कश्मीर के संवेदनशील राजनीतिक औज़ार का इस्तेमाल करके अन्धराष्ट्रवादी और हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक बयार बहाने की फ़िराक़ में भी है। इसके अलावा भारतीय शासक वर्ग के ऐतिहासिक विस्तारवाद को आगे बढ़ाते हुए कश्मीर को भारत के पूँजीपति वर्ग के लिए श्रम शक्ति की लूट और प्राकृतिक सम्पदा के दोहन का खुला चरागाह बनाने का मंसूबा भी है।** आपको याद होगा कि मोदी सरकार ने पिछले साल 5 अगस्त की तारीख़ को इवेण्ट में तब्दील कर "कश्मीर पर जीत" के कुण्ठित विजयोन्माद के प्रदर्शन के दिन के तौर पर मनाया था। साथ ही साथ इस तारीख़ के नाम एक घृणित कारनामा और किया गया था – वह था अयोध्या में भूमिपूजन करके राम मन्दिर निर्माण की आधार शिला रखना। यानी कश्मीर का मुद्दा भारतीय फ़ासिस्टों को मुख्यभूमि भारत में एक तीर से कई निशाने लगाने का मौक़ा देता है।

कश्मीर से "दहशतगर्दी" ख़त्म किये जाने के दावे की सच्चाई यह है कि आज पहले से भी ज़्यादा नौजवान हथियार उठा रहे हैं। और यह कहीं बाहर से प्रशिक्षण प्राप्त करके आये हुए "आतंकवादी" नहीं हैं, बल्कि कश्मीर के ही स्थानीय नौजवान हैं। भारतीय राज्य को इससे अलग किसी और बात की उम्मीद करनी भी नहीं चाहिए।

यह दशकों से सतह के नीचे लावे की तरफ़ इकट्ठा हुआ अलगाव, अविश्वास, गुस्सा और नफ़रत ही है, जो कभी इस तो कभी उस रास्ते से फूटता है। और जो कश्मीर के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की सही दिशा और रणनीति के अभाव में अन्धी गलियों में भटकता भी है। इस साल जनवरी से अब तक 90 "दहशतगर्द" सुरक्षा बलों के साथ गोलीबारी में मारे गये हैं। इनमें से लगभग सभी कश्मीरी थे और कुछ तो 14 साल तक के बच्चे थे।

कश्मीर के आर्थिक विकास के दावे की पोल इसी बात से खुल जाती है कि पिछले दो सालों में जन-जीवन, बाग़बानी, व्यापार और पर्यटन उद्योग को गहरा आघात पहुँचा है। हज़ारों लोगों के हाथ से रोज़गार छिन गया है और जनता का जीवन, जो पहले से ही त्रस्त और परेशानहाल था, और गहरे अँधेरे में धकेल दिया गया है। पिछले दो सालों में काम-धन्धे ठप्प होने के कारण बैंक और अन्य प्रकार के ऋण प्राप्त लोगों के सामने लोन आदि चुकाने की एवज में अपनी ज़मीनें तक बेचने की नौबत आ रही है या बैंकों के द्वारा उन्हें ज़ब्त कर लिया जायेगा। बन्द के दौरान इण्टरनेट पर पूरी तरह से प्रतिबन्ध रहा और लम्बे समय तक 2जी स्पीड ही चलती रही। इस साल फ़रवरी में जाकर 4 जी इण्टरनेट सेवाएँ पूरी तरफ़ से बहाल की गयी थीं। इण्टरनेट की सुविधा न होने के कारण स्कूल-कॉलेज के छात्र-छात्राओं को ख़ासी दिक्क़तें पेश आयीं। कई छात्र तो ज़रूरी इम्तिहानों में भी नहीं बैठ पाये। इण्टरनेट बन्द होने के कारण ही झेलम में खनन समेत विभिन्न सरकारी विभागों के टेण्डर ग़ैर-कश्मीरी उद्योगपतियों के हाथ में चले गये। यह भी सीधे तौर पर कश्मीर के राष्ट्रीय दमन का हिस्सा ही है। बन्द की आंशिक समाप्ति के बाद जन-जीवन कुछ पटरी पर आने ही लगा था कि लोगों पर कोरोना महामारी और लॉकडाउन का क़हर टूट पड़ा। **वैसे तो मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही और नाक़ाबिलियत ने पूरे भारत की ही मेहनतकश जनता के जीवन को संकट में डाल दिया लेकिन पहले से ही परेशान हाल कश्मीरी अवाम पर आपदा का भार और भी अधिक पड़ा है।**

फिर पिछले साल ही केन्द्र सरकार द्वारा जारी राजपत्र में जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन आदेश 2020 अधिवास अधिनियम के अन्तर्गत कश्मीर के 'डोमिसाइल' नियमों में बदलाव किये गये। अब जम्मू-कश्मीर में 15 वर्ष रहने वाले अथवा 7 साल की अवधि तक राज्य में पढ़ाई करने वाले (जो कक्षा 10वीं या 12वीं में जम्मू-कश्मीर में स्थित किसी शैक्षणिक संस्थान में उपस्थित रहे हों) यहाँ के स्थायी निवासी प्रमाणपत्र या 'डोमिसाइल' के अधिकारी होंगे। इसके अलावा केन्द्र सरकार के तहत काम कर रहे उन कर्मचारियों के बच्चे भी अधिवास या 'डोमिसाइल' के योग्य होंगे जिन्होंने 10 साल तक राज्य में सेवाएँ दी हों। मोदी सरकार द्वारा अनुछेद 370 और 35ए को निरस्त करने के बाद यह अधिनियम उसकी तार्किक परिणति ही है। **जिस छल-कपट और साज़िशाना तरीक़े से मोदी सरकार द्वारा 5 अगस्त, 2019 की धोखाधड़ी को अंजाम दिया गया था, हुबहू उसी तरीक़े से 31 मार्च, 2020 का डोमिसाइल सम्बन्धी यह अधिनियम लाया गया था।**

इसके बाद कश्मीर के कई महत्वपूर्ण पुराने क़ानूनों को केन्द्र सरकार द्वारा पिछले साल अक्टूबर में मनमाने ढंग से रद्द कर दिया गया जिसमें कश्मीर में ज़मीन-सम्बन्धी मालिकाने के क़ानूनों में बदलाव प्रमुख हैं। आपको याद होगा कि अनुच्छेद 370 के हटाये जाने पर एक विक्षिप्त क़िस्म का उन्माद संघियों में देखने को मिला था जब उनके द्वारा भारत के लोगों को कश्मीर में ज़मीन ख़रीदने के सपने दिखाये जा रहे थे और कश्मीरी औरतों से शादी करने की क़ब्ज़ावादी मनोरोगी सोच की खुलेआम फ़ासिस्ट मर्दवादी नुमाइश की जा रही थी। वास्तव में भारत की आम मेहनतकश-मज़दूर आबादी, जिसे भारत में ही सिर के ऊपर छत मय्यसर नहीं है, वह कश्मीर में क्या ख़ाक ज़मीन ख़रीदेगी! **यह बदलाव वास्तव में भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए ही किये गये हैं जिनके लिए अब तक ये क़ानून पूँजी निवेश और ज़मीन ख़रीदने में बाधा पैदा करते थे।** ग़ौरतलब है कि टाटा, रिलायंस समेत 40 कम्पनियों ने जम्मू-कश्मीर में आईटी सेक्टर, रक्षा, पर्यटन, कौशल विकास, शिक्षा, नवीकरणीय ऊर्जा, आतिथ्य और अवसंरचनागत उद्योग, बाग़बानी आदि उद्योगों में पूँजी-निवेश करने में दिलचस्पी दिखायी है।

कश्मीर की स्वायत्तता को अभिव्यक्त करने वाले जो रहे-सहे क़ानूनी अधिकार थे, उन्हें भी मोदी सरकार द्वारा ख़त्म कर दिया गया। अपनी पूँजी-परस्त विस्तारवादी नीति को अमली जामा पहनाते हुए अब नये क़ानूनी बदलावों के तहत पूँजीपतियों को खुले हाथों से ज़मीन देने के काम की शुरुआत कर दी गयी है। अक्तूबर 2020 में जम्मू-कश्मीर केन्द्र शासित प्रदेश पुनर्गठन (केन्द्रीय क़ानूनों का अनुकूलन) तीसरा आदेश, 2020 (Union Territory of Jammu and Kashmir Reorganization (Adaption of Central Laws) Third Order, 2020)और जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन (राज्य क़ानूनों का अनुकूलन) पाँचवा आदेश, 2020 (Jammu and Kashmir Reorganization (Adaptation of State Laws) Fifth Order, 2020)के तहत अब पूरे जम्मू-कश्मीर में ज़मीन की ख़रीद-फ़रोख्त को सारे भारतीयों (यानी पूँजीपतियों!) के लिए खोल दिया गया है।

**कश्मीर जिन रेडिकल भूमि सुधारों के लिए जाना जाता था, उन्हें विधिक रूप देने वाले क़ानूनों को हटा दिया गया है क्योंकि ये क़ानून बड़े भूमि अधिग्रहण को रोकते थे।** साथ ही साथ भारतीय सेना को यह अधिकार दे दिया गया है कि अपनी मर्ज़ी के हिसाब से वह जहाँ चाहे ज़मीन ले सकती है और सरकार को भी यह अधिकार दे दिया गया है कि वह कश्मीर में मौजूद कोई भी ज़मीन और सम्पति, औद्योगिक और पूँजी निवेश के लिए ले सकती है। यह आदेश राज्य के 12 क़ानूनों को निरस्त करते हैं और उसके बदले 14 क़ानूनों को लागू करते हैं लेकिन वास्तविकता में ये आदेश कश्मीरियों के बचे-खुचे अधिकारों पर भी डाका डालने का काम करते हैं। नये क़ानूनी संशोधनों के तहत अब खेतिहर ज़मीन का ग़ैर-कृषि इस्तेमाल के लिए आसानी से उपयोग किया जा सकेगा। रियल एस्टेट उद्योग में निवेश को बढ़ावा देने के लिए रियल एस्टेट (रेग्युलेशन एण्ड डेवलपमेण्ट) एक्ट का केन्द्रीय क़ानून कश्मीर में भी लागू कर दिया गया है। इन नये बदलावों के तहत सामरिक उपयोग के लिए किसी भी ज़मीन का अधिग्रहण सेना द्वारा किया जा सकेगा। **दरअसल ये क़ानूनी बदलाव कश्मीर और कश्मीरी समाज की समस्त संरचना को बदलने की निग़ाह से ही मोदी सरकार द्वारा लागू किये जा रहे हैं।**

इसके अलावा एक अन्य आदेश के तहत "पत्थरबाज़ों" को पासपोर्ट के लिए अनापत्ति पत्र नहीं दिया जायेगा। जम्मू-कश्मीर-

पुलिस के सीआईडी विंग ने इस साल 31 जुलाई को एक निर्देश जारी कर कहा है कि सरकार या राज्य के ख़िलाफ़ "ध्वंसात्मक कार्य" में लिप्त लोगों को न तो पासपोर्ट के लिए सुरक्षा अनापत्ति मिलेगी और न ही सरकारी सेवाओं और योजनाओं का लाभ मिलेगा। इस आदेश के तहत सभी विभागों को निर्दिष्ट किया गया है कि पासपोर्ट या अन्य सरकारी योजनाओं के लिए आने वाले हरेक आवेदन की ठीक से जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए और सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि कहीं आवेदक किसी "राज्य-विरोधी" गतिविधि में तो संलिप्त नहीं है या उसके ख़िलाफ़ पत्थरबाज़ी या किसी अन्य अपराध का कोई मुक़दमा तो दर्ज नहीं है।

अब थोड़ी चर्चा कश्मीर के मौजूदा राजनीतिक नेतृत्व पर भी कर लेते हैं। 5 अगस्त को मुख्यधारा के जिन राजनीतिक नेताओं को नज़रबन्द या गिरफ़्तार कर लिया गया था, उनमें से अधिकांश को पिछले साल अक्टूबर तक रिहा कर दिया गया। उसके बाद ही 15 अक्टूबर, 2020 को नेशनल कांफ्रेंस, पीडीपी, सीपीएम और अन्य स्थानीय दलों ने मिलकर "गुपकर गठबन्धन" का गठन किया जिसका कथित उद्देश्य अनुच्छेद 370 और कश्मीर के पूर्ण राज्य के दर्ज़े की बहाली है। दिसम्बर 2020 में ज़िला विकास काउंसिल के चुनावों में गुपकर अलायन्स को कुल 278 सीटों में से 110 पर जीत हासिल हुई थी जबकि भाजपा 75 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी और वोट शेयर के मामले में भी सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी थी। यह कश्मीर का विशेष दर्जा ख़त्म किये जाने के बाद के पहले चुनाव थे। भारतीय मीडिया में मतदान प्रतिशत को लेकर काफ़ी शोरगुल मचाया गया कि यह 51 प्रतिशत था। सच्चाई यह है कि यह आँकड़ा जम्मू और कश्मीर दोनों को मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। जम्मू में मतदान प्रतिशत ज़्यादा होने के कारण मतदान को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करना आसान भी था। कश्मीर के ज़्यादातर इलाकों में मतदान प्रतिशत 20 फ़ीसदी भी नहीं था। इसके साथ ही गुपकर गठबन्धन की चुनावों में जीत भी एक भ्रामक तस्वीर पेश करती है। इन "मुख्यधारा" की पार्टियों और उनके नेताओं का कश्मीरी अवाम में कोई आधार अब बचा नहीं है और इन्हें भारतीय राज्य के एजेण्ट के तौर पर ही जाना जाता है।

फिर इस साल 24 जून को गुपकर प्रतिनिधियों को मोदी सरकार द्वारा वार्ता के लिए दिल्ली बुलाया गया था। यहाँ नरेन्द्र मोदी ने अपनी चिर-परिचित ड्रामेबाज़ी के ज़रिये "दिल की दूरी" और "दिल्ली की दूरी" जैसे अर्थहीन जुमलों पर अभिनय कर अहंकारोन्मादी किरदार निभाया। इन समझौतापरस्त अवसरवादी नेताओं ने अच्छे स्कूली बालकों की तरह मोदी जी के "मन की बात" सुनी भी! यही नहीं, फिर साथ में फ़ोटो भी खिचवायी। मोदी सरकार द्वारा की गयी वार्ता में सरकार द्वारा कहा गया है कि वह पहले 'डीलिमिटेशन' की प्रक्रिया पूरी करेगी यानी लोकसभा और राज्यसभा के चुनाव निर्वाचन मण्डलों का पुनर्निर्धारण करेगी, इसके बाद चुनाव करवायेगी और कश्मीर को राज्य का दर्जा उसके बाद ही दिया जायेगा। वहीं गुपकर गठबन्धन का कहना है कि पहले राज्य का दर्जा दिया जाये। इनमें से कुछेक अनुच्छेद 370 और 35ए को पहले बहाल किये जाने की बात कर रहे हैं और उसके बाद ही चुनाव कराने की बात कर रहे हैं।

यह कश्मीर का बच्चा-बच्चा भी जानता है कि उमर अब्दुल्ला से लेकर महबूबा मुफ़्ती जैसे इन तमाम नेताओं ने अपनी क़ौम और उसके संघर्ष से ग़द्दारी करके भाजपा के साथ सत्ता की सेज तक सजायी है और आम तौर पर भी भारतीय राज्य की कठपुतली बनकर ही काम किया है। यह कश्मीरियों के क़ौमी संघर्ष के नुमाइन्दे तो कत्तई नहीं कहलाये जा सकते हैं। नेशनल कॉन्फ्रेंस तो अब यह तक कह रही है कि अनुच्छेद 370को बहाल करने की माँग अब यथार्थवादी नहीं है! यह दिखला देता है कि माँगों का क्षितिज और एजेण्डा भारतीय राज्य और मोदी सरकार द्वारा तय किया जा रहा है।

जहाँ तक हुर्रियत कांफ्रेंस व अन्य अलगाववादी संगठनों का प्रश्न है तो 5 अगस्त, 2019 के बाद के घटनाक्रम से यह भी स्पष्ट हो गया है कि इन सबकी भी कोई विशेष साख कश्मीरी अवाम के बीच रह नहीं गयी है। आम तौर पर कश्मीर में चुनाव बहिष्कार का आह्वान करने वाले इन संगठनों ने इस बार उपरोक्त चुनावों का बहिष्कार भी नहीं किया था। **इतना साफ़ है कि मौजूदा राजनीतिक नेतृत्व से आम कश्मीरियों का मोहभंग हो चुका है और उनसे कोई उम्मीद भी बाक़ी नहीं रही है।**

**तो क्या इन दो सालों में कश्मीर या कश्मीरियों के हालात बदले? बिलकुल नहीं!** बल्कि इस बीच कश्मीर में भारतीय राज्यसत्ता के दमन और आतंक राज में और अधिक इज़ाफ़ा हुआ है। पेलेट गन्स और बन्दूकों से बच्चों और नौजवानों को लगातार निशाना बनाया जा रहा है ताकि दहशत और डर के माहौल को बरक़रार रखा जा सके। मानवाधिकारों को दण्ड-मुक्ति के साथ सुरक्षा बलों द्वारा रौंदा जा रहा है। आफ्सपा और पीएसए जैसे काले दमनकारी क़ानूनों के साये में आम कश्मीरी लोग जी रहे हैं। आये दिन घरों पर छापे पड़ रहे हैं। आम नागरिकों, विशेष तौर पर नौजवानों को शक़ की बिना पर जेलों में डाला जा रहा है। कश्मीर भारतीय राज्य के राजकीय दमन, हिंसा और अभूतपूर्व सैन्यकरण के चक्रव्यूह में आज भी फँसा है।

लेकिन इतिहास भी बताता है कि किसी भी क़ौम की आकांक्षाओं को कुचल कर बड़ी से बड़ी सैन्य ताक़त भी चैन से नहीं बैठ पायी है। तारीख़ गवाह है कि फ़ौजी बूटों और बन्दूकों के दम पर किसी छोटे से इलाक़े की भी पूरी आबादी को लम्बे समय तक दबा कर नहीं रखा जा सकता है। सतह के नीचे पनप रहा प्रतिरोध सतह के ऊपर आता ही है। **किसी भी क़ौम को जबरन, उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी सीमाओं में शामिल करके, कोई भी दमनकारी शासक वर्ग उस क़ौम की आज़ादी की इच्छा का गला हमेशा के लिए नहीं घोंट सकता।**

आज भारत की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी, छात्रों-नौजवानों को भी यह समझना होगा कि कश्मीर महज़ काग़ज़ पर बना कोई नक्शा या "भारत माता का मुकुट" नहीं है। कश्मीर सबसे पहले कश्मीरियों का है। और अपने भविष्य का फैसला हर क़ौम ख़ुद करती है। आज भारत के मज़दूर वर्ग और इंसाफ़पसन्द, तरक्क़ीपसन्द, तब्दीलीपसन्द छात्रों-नौजवानों को संघर्षरत कश्मीरी क़ौम के आत्म-निर्णय के अधिकार के जनवादी संघर्ष के साथ एकता स्थापित करनी होगी। यह बात भी समझनी होगी कि कोई भी जनता यदि अपनी राज्यसत्ता द्वारा किसी क़ौम के दमन पर मौन रहेगी तो वह ख़ुद भी अपने शासकों द्वारा ग़ुलाम बनाये जाने के लिए अभिशप्त होगी।

•

विश्व-पटल पर

# संकट से गुज़रता क्यूबा: यह उथल-पुथल अप्रत्याशित नहीं

लता

क्यूबा, करेबियन सागर स्थित एक द्वीप जो अमेरिकी साम्राज्यवाद को आइना दिखाने के लिए अक्सर चर्चा में रहा है, इस वर्ष जुलाई में फिर सुर्खियों में था। लेकिन इस बार सुर्खियों में होने की वजह अमेरिका नहीं बल्कि स्वयं क्यूबा का अन्तरिक मामला था। हज़ारों की संख्या में लोग दियास कानाल की मौजूदा सरकार के ख़िलाफ़ सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे थे। 1994 के बाद क्यूबा में यह पहला इतना बड़ा प्रदर्शन या जनाक्रोश सड़कों पर देखने को मिला है। आक्रोश का तात्कालिक मुद्दा कोरोना के काल में डगमगाई अर्थव्यवस्था की वजह से उत्पन्न बेरोज़गारी, भोजन आपूर्ति की समस्या और लड़खड़ाई स्वास्थ्य सुविधाएँ रहीं। हालाँकि, स्वास्थ्य सुविधाओं और शिक्षा में प्रयोगों के क्षेत्र में क्यूबा की अपनी साख रही है। लेकिन लम्बे समय से डगमगाई अर्थव्यवस्था की वजह से स्वास्थ्य सुविधाएँ पहले से कुछ कमज़ोर पड़ी थीं, जो कोरोना की दूसरी लहर से उत्पन्न दबाव में चरमरा गयीं। जैसा कि वहाँ के लोगों का कहना था कि उनके आर्थिक संकट लम्बे हैं और अमेरिका की घेरेबन्दी ने इसे और गहरा बना दिया है। दियास कानाल के ख़िलाफ़ लोगों की नाराज़गी है ही, साथ ही लम्बे समय से चली आ रही अमेरिकी घेरेबन्दी के ख़िलाफ़ भी लोगों में नाराज़गी थी। सच्चाई यह है कि उसने अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए जनता के आन्दोलनों को कुचला है और कठपुतली या तानाशाह सत्ताओं की स्थापना की है। जनता द्वारा तानाशाहों का तख़्तापलट; स्वयं अपनी सरकार का चुना जाना; प्रशासन और निर्णय में प्रत्यक्ष भागीदारी अमेरिका के जनवाद की व्याख्या में फिट नहीं बैठते। इसलिए अमेरिका ने कोरिया, वियतनाम, इण्डोनेशिया, लाओस, कम्बोडिया, चिले, अर्जेण्टीना, बोस्निया, कोसोवो, हायती के अलावा कई देशों में क्रान्तियों को समाप्त करने का प्रयास किया या जनवादी प्रक्रिया से चुनी सरकारों का तख़्ता पलट करवाया। अमेरिका के ऐसे कुत्सित कार्यों की सूची इतनी लम्बी है कि पूरा पन्ना भर जाएगा लेकिन सूची समाप्त नहीं होगी। क्यूबा में भी स्पेनी साम्राज्य के काल से ही घुसपैठ कर रहे अमेरिका ने क्रान्ति के विनाश के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया। क्यूबा के सन्दर्भ में अमेरिका के 'जनवादी' कारनामों में शामिल है -1961 में 'बे ऑफ पिग' हमला, फिदेल कास्त्रो की हत्या की साज़िशें और सबसे महत्वपूर्ण क्यूबा पर लगायी गयी व्यापारिक घेरेबन्दी। अमेरिकी साम्राज्यवाद के इन घृणित कुकर्मों की वजह से जनता में पैठी नफ़रत ने ही बहुत हद तक क्यूबा की क्रान्ति को ज़िन्दा रखा या यूँ कहें कि क्यूबा की क्रान्ति के लम्बे समय तक टिके रहने के पीछे के प्रमुख कारणों में से एक है - अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ़ वहाँ की जनता की घोर नफ़रत। इसके अलावा लातिन अमेरिका की 'कउदिल्यों' परम्परा को भी बहुत हद तक हम महत्वपूर्ण कारक की तरह देख सकते हैं। 'कउदिल्यों' की अवधारणा को बहुत कुछ एक नायक/नेता के रूप में समझा जा सकता है; एक ऐसा नायक/नेता या सेनापति जिसकी करिश्माई छवि जनता के बीच उसके प्राधिकार को स्थापित करती है। यह नायक नेता जनता के संघर्षों को नेतृत्व देता है और उसकी मान्यता लगभग प्रश्नों से परे होती है। क्यूबा की जनता के बीच फिदेल कास्त्रो ऐसी ही छवि रखते थे।

क्यूबा के वर्तमान संकट को समझने के लिए हमें इतिहास में कुछ पीछे जा कर इस बात की पड़ताल करनी होगी कि 1959 में क्यूबा की जनता ने जो बहादुराना संघर्ष कर बतिस्ता की तानाशाही उखाड़ फेंकी और साथ में अमेरिकी साम्राज्यवाद को भी क्यूबा से बाहर खदेड़ा, वह क्रान्ति क्यों लम्बे समय से संकट से गुज़र रही है। संकट का काल 1990 के पूर्वार्द्ध से ही आरम्भ हो गया था और धीरे-धीरे अपने प्रगतिशील चरित्र को खोती हुई यह क्रान्ति चीन की तरह के बाज़ार समाजवाद तक पहुँच गयी है। क्यूबा के इतिहास को और ख़ासकर क्यूबा की क्रान्ति के इतिहास को जानना बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि जब भी क्यूबा के सम्बन्ध में कोई ख़बर आती है तो बुर्जुआ मीडिया प्रचार में जुट जाती है कि देखो-देखो एक और समाजवाद असफ़ल रहा। सबसे पहली और सबसे ज़रूरी बात कि क्यूबा की क्रान्ति एक सर्वहारा क्रान्ति नहीं थी; इसका नेतृत्व कोई सर्वहारा पार्टी नहीं कर रही थी और क्रान्ति हो जाने के बाद 1961 में क्यूबा के सामाजवादी राज्य होने की घोषणा की गयी। फिदेल कास्त्रो की पार्टी और वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी पीएसपी (पार्तिदो सोसेलिसता पोपुलार) ने 1965 संयुक्त रूप से 'क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी' का नाम ग्रहण किया। इन सब बातों पर आगे चर्चा करेंगे। मुख्य बात यह है कि क्यूबा की क्रान्ति को हम समाजवादी या सर्वहारा क्रान्ति नहीं कह सकते। अपवादस्वरूप स्थितियों में यह सम्भव हो सकता है कि कोई साम्राज्यवाद विरोधी लोकप्रिय जनपक्षधर पार्टी सत्ता पर कब्ज़े के बाद भी सर्वहारा और लाइन अपना कर समाजवादी राज्य और अर्थव्यवस्था का निर्माण करे। लेकिन क्यूबा में ऐसा होता नज़र नहीं आता और सार में यह कहा जा सकता है कि यहाँ समाजवाद की ओर उन्मुख नीतियों को एक कल्याणकारी राज्य द्वारा लागू किया जा रहा था जिसके पीछे की मूल प्रेरक शक्ति साम्राज्यवाद के प्रति घोर नफ़रत थी। आइये इसे इतिहास में स्थित कर समझने की कोशिश करते हैं।

## संक्षेप में क्यूबा की क्रान्ति का इतिहास

1959 में हुई क्यूबा की क्रान्ति एक शानदार परिघटना थी। यह क्रान्ति साम्राज्यवाद को करारा जवाब, बतिस्ता की तानाशाही के अन्त के साथ-साथ आज़ादी के लिए क्यूबा की जनता के लम्बे

इन्तज़ार की समाप्ति भी थी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में जब लातिन अमेरिका के देश स्पेनी उपनिवेश के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए 'क्रियोल' नेतृत्व में आज़ाद हो रहे थे, उस समय क्यूबा की 'क्रियोल' आबादी दक्षिण अमेरिका में स्पेन के सबसे वफ़ादार उपनिवेश की भूमिका निभा रही थी। क्यूबा की जनता को अभी आज़ादी के विचार और नेतृत्व के लिए 50 वर्षों का लम्बा इन्तज़ार करना बाकी था। लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कई ग़ुलाम विद्रोह हुए। इन ग़ुलाम विद्रोहों ने पुनर्जागरण से प्रभावित स्वतन्त्रता की अवधारणा को प्रभावित किया जो कि बाकी लातिन अमेरिकी देशों की मुख्य धारा की तुलना में ज़्यादा प्रगतिशील था। क्योंकि यहाँ गुलामों की स्वतन्त्रता और समानता के विचार भी पुनर्जागरण प्रभावित स्वतन्त्रता की अवधारणा में शामिल थे। स्पेनी साम्राज्यवाद से मुक्ति की अन्य धाराओं में जिनमें एक सुधारवाद की धारा और दूसरी सीधे अमेरिकी साम्राज्यवाद के आधिपत्य के समर्थन की धारा थी उनमें यह पहलू नदारद थे। बड़े-बड़े गन्ने की खेतों और रैन्च के मालिक अमेरिकी साम्राज्यवाद के वफ़ादार बने रहे और क्रान्ति के बाद भी अपनी लुटी दुनिया वापस लेने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ मिल कर विध्वंस का प्रयास करते रहे। 'बे ऑफ पिग' हमला उसी का एक उदाहरण है। क्यूबा में अमेरिकी साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार भी यही वर्ग था। इन दोनों धाराओं में दूसरी धारा के बारे में तो कुछ कहने की आवश्यकता नहीं लेकिन तथाकथित सुधारवादी धारा भी अश्वेतों की गुलामी को अपरिहार्य बुराई मानती थी।

वैचारिक स्तर पर फेलिक्स वालेरा स्पेनी उपनिवेश से आज़ादी और गुलामी से मुक्ति के पहले चिन्तक थे। 10 अक्टूबर 1868 के आन्दोलन में स्पेनी उपनिवेश से आज़ादी और ग़ुलाम मुक्ति के विचार आपस में मिले हुए थे। कार्लोस मानुएल सेस्पेदेस ने बाइयानो शहर पर कब्ज़ा कर वहाँ क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की और यहीं से दस वर्ष का युद्ध आरम्भ हुआ। क्यूबा के इतिहास में आज़ादी के लिए चला सबसे लम्बा और सबसे रक्तरंजित युद्ध था यह। अपनी एक तिहाई आबादी को खो कर, बड़ी आबादी के अमेरिका प्रवासित हो कर और बड़े स्तर पर जान-माल की बर्बादी के बावजूद क्यूबा अपनी आज़ादी की लड़ाई हार गया। सेस्पेदे ने 1870 में कहा था कि क्यूबा पर अधिकार जमाने की अमेरिका की गुप्त योजना है और उसकी यह बात 1898 में सच हो गयी। 'दस वर्ष के युद्ध' की असफ़लता के बाद भी माम्बिसेस ('दस वर्ष युद्ध' के गेरिल्ला योद्धा) के नेतृत्व में आज़ादी का संघर्ष जारी रहा। खोसे मार्ती की विचारधारा ने भी 1868 की विचारधारा को ही आगे बढ़ाया। माम्बिसेस के तीस वर्षों के विद्रोह का चरित्र स्पष्ट रूप से जनवादी, सामाजिक और नस्ली समानतावादी था जो उपनिवेशवाद विरोधी होने के साथ-साथ साम्राज्यवाद विरोधी भी था। 1898 में अमेरिका ने प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया और 30 साल के इस वीरतापूर्ण विद्रोह को बेरहमी से कुचल दिया। अमेरिकी साम्राज्यवाद ने क्यूबा की आम मेहनतकश जनता के सपनों और महत्वाकांक्षाओं को बन्दूक की नली और फौजी बूटों से कुचलते हुए सौनिक सत्ता स्थापित की। इसके बाद कई कठपुतली सरकारें बनी और बीच-बीच में सैन्य तानाशाही के काल रहे।

यदि क्रान्ति के विचारधारात्मक प्रभावों की बात करें तो इसमें कई धाराएँ शामिल थीं, लेकिन प्रमुख धारा माम्बिसेस की ही मानी जायेगी यानी जनवाद, उग्र-समतावाद, कृषि सुधार और साम्राज्यवाद विरोध। आगे की चर्चा विचारधारात्मक प्रभाव पर ही केन्द्रित है। 1898 से 1959 की क्रान्ति तक विद्रोहों के बर्बर दमन के बावजूद साम्राज्यवाद का यह कालखण्ड मज़दूरों, छात्रों, गुलामों और किसानों के संघर्षों और विद्रोहों से भरा हुआ था। निश्चित ही इनमें साम्राज्यवाद विरोध का स्वर सबसे मुखर था जो कि अमेरिकी साम्राज्यवाद के बर्बर दमन और फल व चीनी प्लान्टेश के भयंकर शोषण-उत्पीड़न को देख कर समझा जा सकता है। इसके अलावा विद्रोहों की विचारधारा में वही उग्र-समतावाद, जनवादी कृषि सुधार व आत्मनिर्भरता ही प्रमुख पहलू थे। तानाशाह खेरारदो माचादो के ख़िलाफ़ हुई 1933 की असफ़ल क्रान्ति को 1956 की क्रान्ति का प्रणेता माना जाता है। इसकी मुख्य वजह है दोनों क्रान्तियों की विचारधारात्मक समानता। यह हम कह सकते हैं कि माम्बिसेस की विचारधारा क्यूबा के संघर्षों में विकसित हो रही थी और प्रत्येक संघर्ष के बाद यह उन्नत हो रही थी। इस तरह 1959 की क्रान्ति का सैद्धान्तिक आधार निश्चित ही स्वतन्त्रता के इन कई असफ़ल संघर्षों और सुधार के प्रयासों के विचारधारात्मक आधार की जारी कड़ी ही थी जिसे हम किसी भी रूप में 'पहले से ही' समाजवादी या कम्युनिस्ट नहीं कह सकते। 1959 की क्रान्ति के विचारधारात्मक प्रभाव में प्रमुख माम्बिसेस के विचार थे जैसा कि हमने पहले ही स्पष्ट किया है, इसलिए यह अनायास नहीं था कि क्रान्ति के बाद कास्त्रो ने 'दस वर्षों के युद्ध' के सेनापति कार्लोस मान्युल दे सेसपेदेस को राष्ट्रपिता घोषित किया। इतना ही नहीं फिदेल कास्त्रो स्वयं किसी कम्युनिस्ट पार्टी से नहीं आते थे। कास्त्रो 'पार्तिदो ओरथोदॉक्स' (ऑर्थोडॉक्स पार्टी) के सदस्य थे जिस पार्टी का संस्थापक एदुआर्दो चीबास, एक रईस विद्रोही था। वह 1933 की असफ़ल क्रान्ति के नेता रामोन ग्राऊ सान मार्तीन की पार्टी औतेन्तिको (ऑथेन्टिक) से निकला हुआ था। 1933 की क्रान्ति की असफ़लता के बाद मार्तीन की पार्टी में व्याप्त भ्रष्टाचार देख कर चीबास अलग हो गया और उसने 'ऑर्थोडॉक्स पार्टी' का गठन किया। वह भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ रेडियो के साप्ताहिक कार्यक्रमों में बेहद जोश और आक्रोश से बातें करता था और ऐसे ही एक कार्यक्रम में उसने ख़ुद को गोली मार ली थी।

क्रान्ति के एक अन्य महत्वपूर्ण विचारधारात्मक प्रभाव के रूप में हम आन्तोनियो गितेरास को देख सकते हैं। क्यूबा की क्रान्ति में समाजवादी तत्व शामिल करने का योगदान गितेरास का रहा। गितेरास 1933 की असफ़ल क्रान्ति के दौरान रामोन ग्राऊ सान मार्तीन की चार महीने की अल्पकालिक सरकार के गृह मन्त्री थे। उस समय नौजवान गितेरास अभी विश्वविद्यालय में स्नातक की पढ़ाई ही कर रहे थे। खोसे मार्ती की सरकार के उग्र परिवर्तन के निर्णय के पीछे गितेरास का ही हाथ था। हालाँकि ये परिवर्तन लागू हो पाते उसके पहले ही बतिस्ता ने सरकार गिरा दी और सैन्य तानाशाही स्थापित कर दी। गितेरास की विचारधारा समाजवाद के क़रीब थी जिसे मुख्य: पेरू के चिन्तक खोसे मारियातेगी के विचारों का वाहक कह सकते हैं। कास्त्रो की पार्टी के कई सदस्य भी मारियातेगी से प्रभावित थे। इस तरह स्वयं कास्त्रो की पार्टी '26 जुलाई मूवमेन्ट' (एम-26-7) में कई विचारों का प्रभाव था। इस पार्टी की स्थापना 1956 में कास्त्रो ने मेक्सिको में की जहाँ गेरिल्ला योद्धाओं की फौज़ तैयार करने वह गये थे। एरनेस्तो 'चे' गेवारा भी कास्त्रो की पार्टी में यहीं शामिल हुए। इसमें प्रमुख स्रोत माम्बिसेस

(कार्लोस मान्युल दे सेसपेदेस और आन्तोनियो मासेयो, दस वर्ष युद्ध के सेनापति और उपसेनापति) की लोकप्रिय क्रान्तिकारी परम्परा मानी जायेगी और फिर चीबास, रामोन मार्तीन, गितेरास, मारियातेगी और अन्त में 'चे' की फोको विचारधारा। (फोकोवाद, बेहद संक्षेप में कहें तो क्रान्ति को जन युद्ध या आम बगावत तक इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं। कुछ समर्पित घुमन्तू गेरिल्ला योद्धा किसी भी समय छोटे गेरिल्ला युद्ध आरम्भ कर सकते हैं जो दूसरों के लिए प्रेरणा बनेगें और दूसरों के शामिल होने से गेरिल्ला युद्ध तेज़ी से फैलेगा। फोको स्पेनी शब्द है जिसका अर्थ है स्पॉटलाइट, यानी शुरुआती गेरिल्ला युद्ध स्पॉटलाइट बनेंगे अन्य गेरिल्ला युद्धों के लिए।)

यह चर्चा थी क्रान्ति को नेतृत्व देने वाली कास्त्रो की पार्टी के एम-26-7 के विचारधारात्मक आधार की जो बहुत कुछ थी लेकिन कम्युनिस्ट नहीं। क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी, पार्तिदो सोसियालिस्ता पोपुलार (पॉप्यूलर सोशलिस्ट पार्टी) क्रान्ति में देर से शामिल हुई लगभग जीत हासिल करने के कुछ पहले। यह पार्टी सोवियत रूस से क़रीबी रखती थी। उस समय रूस में संशोधनवादी निकिता ख्रुश्चेव का शासन था। पीएसपी का मज़दूर आन्दोलनों और बुद्धिजीवियों के बीच कुछ आधार था लेकिन यदि इसकी वैचारिक समझदारी की बात करें तो इसने फिदेल कास्त्रो, 'चे' ग्वेरा आदि अन्य गेरिल्ला योद्धाओं को निम्नपूँजीवादी दुस्साहसवादी कहते हुए बतिस्ता का समर्थन किया था। 1958 के अन्त-अन्त तक जब क्रान्ति की जीत तय ही थी तब जाकर पीएसपी ने क्रान्ति का समर्थन किया और इसमें शामिल हुई।

क्यूबा की शानदार क्रान्ति लम्बे समय से चले आ रहे शोषण, उत्पीड़न से मुक्ति और स्वतन्त्रता की चाहत से लबरेज थी जिसमें साम्राज्यवाद विरोधी भावना प्रबल थी। साम्राज्यवाद, भयंकर आर्थिक संकट और बतिस्ता की तानाशाही के ख़िलाफ़ जनता का आक्रोश फूट पड़ा; मज़दूरों ने चीनी मिलों पर कब्ज़ा कर लिया और लाल झण्डे फहरा दिये; छात्रों ने राष्ट्रपति भवन पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया और सेना के सिपाहियों ने अफ़सरशाही समाप्त करते हुए सैनिक विद्रोह किया; 1957 से 1 जनवरी 1959 तक क्यूबा मज़दूर हड़तालों, छात्र आन्दोलनों और आम प्रदर्शनों के साथ साथ सेना पर हथियारबन्द हमलों की घटनाओं से भरा हुआ था। यह भयंकर उथल-पुथल का दौर था। 1956 में कास्त्रो और चे अन्य 81 गेरिल्ला योद्धाओं के साथ एक टूटी कैबीन क्रूज़र में मेक्सिको से क्यूबा पहुँचे। बतिस्ता की सेना से युद्ध में आठ नौ योद्धाओं को छोड़ कर सभी मारे गए। लेकिन तानाशाही और साम्राज्यवाद से त्रस्त जनता 'चे' और कास्त्रो के गेरिल्ला युद्ध में जल्द ही शामिल होने लगे और यह लोगों में लोकप्रिय होने लगी। यह युद्ध 'सियेरा मायेस्त्रा' (प्रमुख पर्वत श्रृंखला) में चल रहा था। उसी समय शहरों में भी छात्रों और मज़दूरों का विद्रोह जारी था। शहरों की क्रान्ति दूर-दराज़ के ग्रामीण इलाकों तक पहुँच गयी जहाँ पहले से ही कास्त्रो के नेतृत्व में गेरिल्ला युद्ध जारी था। ग्वातेमाला की क्रान्ति की तरह असफ़ल न होने और 'बे ऑफ पिग' के आक्रमण से क्यूबा की क्रान्ति को सुरक्षित निकाल पाने में जनता में आधार और सर्वहारा का हथियारबन्द होना बेहद महत्वपूर्ण कारक रहे।

इस तरह क्यूबा की क्रान्ति को एक व्यापक जनवादी आन्दोलन कहा जा सकता है जिस पर कई विचारधाराओं का प्रभाव था। यह क्रान्ति किसी भी रूप में सर्वहारा क्रान्ति नहीं थी जिसका नेतृत्व एक सर्वहारा पार्टी कर रही हो जो जनता की सर्वहारा चेतना जागृत करते हुए मार्क्सवादी सिद्धान्त, लाइन और कार्यक्रम के आधार पर सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करने का लक्ष्य रखती हो। क्यूबा में क्रान्ति सम्पन्न हो जाने के बाद 1961 में समाजवादी कार्यक्रम अपनाया गया और क्रान्ति में शामिल पार्टियों के संयुक्त मोर्चे को 1965 में क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी का नाम दिया गया। क्रान्ति के बाद समाजवादी कार्यक्रम अपनाना क्रान्ति की ज़रूरत थी। लेकिन इसके बावजूद भी कम्युनिस्ट सिद्धान्तों की समझदारी विकसित करते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत समाजवादी कार्यक्रम लागू किया जा सकता था। साथ ही समाजवादी संक्रमण के दौरान सतत् सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति करते हुए समाज परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। समाजवादी कार्यक्रम तो अपनाया गया लेकिन समाजवाद की स्थापना में जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी और रचनात्मकता पर ज़्यादा निर्भर नहीं रहा गया। इसकी जगह सोवियत रूस की मदद पर निर्भरता बढ़ाई गयी। 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद संशोधनवादी ख्रुश्चेव शासन में आया। 1963 में महान बहस के दौरान क्यूबा ने चीन की क्रान्तिकारी राजनीतिक दिशा की जगह ख्रुश्चेव की संधोधनवादी दिशा का समर्थन किया था। यह भी दर्शाता है कि क्यूबा द्वारा समाजवादी कार्यक्रम अपनाना क्रान्ति की आवश्यकता तो थी लेकिन यह किसी सैद्धान्तिक समझदारी पर आधारित कार्यक्रम न हो कर परिस्थिति जन्यकार्यक्रम था। क्रान्ति के नेतृत्व में सर्वहारा सिद्धान्त की समझदारी लगभग नगण्य थी और आने वाले सालों में इसे विकसित करने का प्रयास होता भी नज़र नहीं आया। 1991 में सोवियत रूस के विघटन के बाद क्यूबा को मिलने वाली मदद समाप्त हो गयी और अमेरिका की घेरेबन्दी जारी थी। 1994 आते-आते क्यूबा गम्भीर आर्थिक संकट से घिर गया। 1993 में ही सीमित लेकिन निजी व्यवसाय को अनुमति दी गयी। 1976 में समाजवादी संविधान अपनाने के बाद 15 साल के अन्दर ही निजी व्यवसाय व सम्पत्ति को अनुमति दी गयी जो यह दर्शाता है कि समाजवादी कार्यक्रम का अपनाया जाना देश की ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के आधार पर नहीं किया गया था और रूस से मदद मिलना समाप्त होते ही अर्थव्यवस्था का लड़खड़ा जाना दिखलाता है कि कुछ समाजवादी नीतियों और संस्थाओं की स्थापना समाज की आन्तरिक गति से निर्दिष्ट न हो कर बाह्य गति से प्रभावित थी और बाह्य गति के समाप्त होते ही वह भी हिल गयी।

यूँ तो क्यूबा में अमेरिकी साम्राज्यवाद-विरोधी जनता की गहरी घृणा के चलते जनता की पहलक़दमी लगातार मौजूद रही थी और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में तमाम किस्म की जनसंस्थाएँ और प्लेटफॉर्म मौजूद रहे थे, लेकिन 1991 में सोवियत संघ के विघटन के बाद जब सोवियत सहायता बन्द हो गयी तो क्यूबाई अर्थव्यवस्था को अपने पैरों पर खड़ा होने और टिके रहने में इन जनसंस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और कुछ नयी जनसंस्थाएँ भी अस्तित्व में आयीं। जनता के 'ग्रासरूट ऑर्गनाइज़ेशन' जैसे 'कोनसेखो पोपुलार' (लोक परिषद) 'पारलियामियेन्तो ओबरेरो' (मज़दूर संसद) आदि का गठन किया गया और सामाजिक सुरक्षा वाले कार्यक्रमों को बजट का बड़ा हिस्सा दिया गया जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा। बड़े उद्योग धन्धे राज्य के नियन्त्रण में ही रहे लेकिन छोटे व्यवसायों को अनुमति दी गयी। यदि सर्वहारा वर्ग

राज्यसत्ता में काबिज़ है, तो अर्थव्यवस्था की नियन्त्रणकारी चोटियों पर यानी भारी उद्योगों, बैंकों, अवरचना आदि में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध स्थापित हो गये हों, तो कुछ क्षेत्रों में छोटे पैमाने के माल उत्पादकों की निजी सम्पत्ति की मौजूदगी कुछ समय के लिए बनी रही सकती है और एक क्रमिक प्रक्रिया में इन छूटे हुए क्षेत्रों में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना हो सकती है। उस सूरत में भी समाजवादी व्यवस्था उजरती श्रम के शोषण पर पूर्ण रोक लगाती है। समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की सभी क्षेत्रों में स्थापना से ही उत्पादन सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण पूरा नहीं हो जाता है, बल्कि उसके बाद सतत् सांस्कृतिक क्रान्तियों के ज़रिये तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को ख़त्म करके ही श्रम विभाजन और वितरण की असमानताओं को कम से कम बनाया जा सकता है और समाजवादी संक्रमण में सही दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। लेकिन क्यूबा में हमें ऐसा होता नज़र नहीं आता। यदि पार्टी एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टी नहीं है, जो कि अपने भीतर सचेतन तौर पर दो लाइनों के संघर्ष को चलाती हो, समाज के भीतर जारी वर्ग संघर्ष में सही राजनीतिक कार्यदिशा को स्थापित करने के लिए क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करती हो और पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध हर क्षेत्र में संघर्ष चलाती हो, तो न तो समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना ढंग से हो सकती है और न ही उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण पूरा हो सकता है।

1994 के बाद क्यूबा धीरे-धीरे कई निजी व्यवसायों को कई रियायतें देता है। पर्यटन पर अर्थव्यवस्था की निर्भरता काफ़ी है इसलिए इस क्षेत्र में कई रियायतें दी गयी हैं। यह भी आश्चर्य की बात है कि यदि इसे समाजवादी व्यवस्था कहा जा रहा है तो कैसे कोई समाजवादी व्यवस्था वेश्यावृत्ति, नशाखोरी, जुआ आदि की इजाज़त दे सकती है। लेकिन यह सभी कुछ क्यूबा में हो रहा है। विदेशों में बैठी वह आबादी जिसका स्वर्ग लुट गया था 1959 में एक बार फिर वह और उसके वंशज क्यूबा में पैसा लगा रहे हैं। पसरता पूँजीवाद क्यूबा के कल्याणकारी राज्य पर दबाव बनाता रहा और 2011 में पार्टी की छठी कांग्रेस में कई प्रमुख आर्थिक परिवर्तन शामिल किये जिसमें कृषि, बड़े उद्योगों में निजी निवेश की बात कही गयी, सरकारी पदों में भारी संख्या में कटौती, राज्य द्वारा दी जाने वाली सब्सिडी को धीरे-धीरे ख़त्म करने की योजना और सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन; निजी सम्पत्ति के ख़रीद-फरोख़्त पर लगा प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया गया। अगले सुधार 2016 में सातवें कांग्रेस में हुए जो 2011 के सुधारों को ज़्यादा व्यवस्थित करते सुधार थे।

रोज़गार के अवसरों में कटौती, सब्सिडी का कम किया जाना यह सब गहराते आर्थिक संकट के दबाव में किया जा रहा है। कल्याणकारी राज्य की ज़िन्दगी बहुत लम्बी नहीं होती है, बढ़ता निजी क्षेत्र हर दिशा में अपने पैर फैलायेगा। पूरे विश्व में कोरोना के बाद गहरी मन्दी छाई है। वहीं क्यूबा में अर्थव्यवस्था पहले से ही ख़स्ताहाल थी। कोरोना ने चरमराई अर्थव्यवस्था को झकझोर कर रख दिया। 1993 से क्रमिक प्रक्रिया में अल्पजीवी समाजवाद के ढर्रे वाले ढाँचे में परिवर्तन उसे कल्याणकारी राज्य के दायरे से भी बाहर लेते जा रहे हैं। क्यूबा बाज़ार के लिए धीरे-धीरे खुल रहा है लेकिन क्यूबा का बाज़ार के लिए खुलना बहुत हद तक चीन के बाज़ार समाजवाद की तरह है जिसमें मूलभूत उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण बना रहेगा।

लातिन अमेरिका और विश्व अकादमिक गलियारों में लिबरल और संशोधनवादियों के बीच हमेशा लातिन अमेरिका के प्रयोगों को लेकर अति आशावाद देखने को मिलता है। इसके अलावा उनका इस बात पर विशेष बल रहता है कि लातिन अमेरिका में समाजवाद का अपना ही लातिन अमेरिकी चरित्र है जो किसी अन्य समाजवाद की कॉपी नहीं। अपने चरित्र से उनका तात्पर्य होता है कि सर्वहारा सिद्धान्तों पर आधारित न होना और दूसरा किसी भी समाजवाद यानी चीन या रूस से कोई समानता नहीं होना। अमूमन तो हर देश की क्रान्ति अपने क़िस्म की होगी वह किसी भी क्रान्ति का नमूना नहीं होगी क्योंकि मार्क्सवाद क्रान्ति का ब्लू प्रिण्ट नहीं देता बल्कि क्रान्ति की समझदारी यानी ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण की पहुँच और पद्धति देता है, जिसके आधार पर हर देश की कम्युनिस्ट पार्टी अपने देश में क्रान्ति की लाइन और कार्यक्रम तय करती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई भी परिवर्तन समाजवादी हो जाएगा महज़ इसलिए कि वह जनपक्षधर है। मार्क्सवाद के भूलभूत सिद्धान्तों में संशोधन किसी परिवर्तन को अपने क़िस्म का समाजवादी नहीं बना देता। इन बुद्धिजीवियों की मुख्य समस्या पूँजीवाद के समर्थकों सी ही है। उनके लिए पूँजीवाद इतिहास का अन्त है और इसके आगे समाज नहीं जाएगा। इन संशोधनवादियों के लिए 'कल्याणकारी राज्य' जो इनके अनुसार समाजवाद है वही समाज का अन्त है। क्योंकि इनकी मुख्य समस्या समाजवाद की व्याख्या है न कि यह समझना कि समाजवाद संक्रमण की मंज़िल है। कुछ भी जो जनपक्षधर दिखता है उसके पीछे यह समाजवाद का लेबल लेकर दौड़ जाते हैं, अपने क़िस्म का, इक्कीसवीं सदी का और ऐसे ही अन्य। इनके लिए यह समस्या नहीं है कि इनके क़िस्म के सुझाये राज्य का नेतृत्व सर्वहारा पार्टी कर रही है या नहीं, किस प्रकार अपने अगले स्तर यानी साम्यवाद तक पहुँचेगा। कहा जा सकता है कि इनके लिए कल्याणकारी राज्य का मॉडल ही इतिहास का अन्त है।

अन्त में क्यूबा की क्रान्ति की बात की जाए तो कहा जा सकता है कि यह समाजवाद उन्मुख नीतियों वाला कल्याणकारी राज्य है, जिसमें अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रति भयंकर नफ़रत इसके बने रहने की मुख्य वजहों में से एक है। एक अन्य प्रमुख वजह जिसकी हम चर्चा पहले भी कर चुके हैं, लातिन अमेरिका में 'काउदिल्यों' संस्कृति की वजह से देश की आम मेहनतकश आबादी में अपने उस नेतृत्व पर भरोसा है जिसने अमेरिकी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ उनकी लड़ाई का नेतृत्व किया। लेकिन अब चीज़ें बदल रही हैं। देश में मौजूदा राष्ट्रपति मिगेल दियास कानेल में फिदेल कास्त्रो जैसा करिश्माई प्रभाव नहीं है। राउल कास्त्रो में भी करिश्माई प्रभाव फिदेल कास्त्रो के स्तर का नहीं था, लेकिन लोगों को पता था कि वह भी क्रान्ति में कास्त्रो के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर लड़ा है। लेकिन कानाल उस दौर का नहीं है। लेकिन यह बात भी उतनी ही सच है कि अभी भी जनता में अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रति नफ़रत उतनी ही प्रबल है। अमेरिका में बैठी धनी प्रवासी आबादी सरकार के ख़िलाफ़ प्रचार कर रही है, लेकिन वहाँ की जनता सड़कों पर नौकरी, भोजन और स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए आन्दोलन कर रही है और साथ ही अमेरिका की घेरेबन्दी को समाप्त करने की भी माँग क्यूबा की जनता उठा रही है।

●

फ़िल्म समीक्षा

# कर्णन

**अविनाश**

**उत्तरआधुनिकतावाद के दौर में जेण्डर, रेस, जातियाँ और तमाम अस्मिता या पहचान की राजनीति ने दर्शन, फ़िल्म, कला, संस्कृति व अन्य जगहों पर तेज गति से अपने पैर पसारे है।** आज उत्तरआधुनिकतावाद के दौर में महाख्यानों (meta narratives) की बात काफ़ी पीछे छूट चुकी है। जिसकी जगह खण्डित व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का बोलबाला है। जिसके चलते चीज़ों को आलोचनात्मक व गति में देखने की कमी दिखती है, वहीं दूसरी ओर अनालोचनात्मक नज़रिये से हर चीज़ का जश्न मनाने की मानसिकता है। भारत में उत्तरआधुनिकतावाद के प्रभाव में लगातार अस्मिता/पहचान की राजनीति पर कई फ़िल्में बन रही है। जिनमें रचना-पद्धति में बदलाव (genre switching) और कुछ नये प्रयोग भी देखने को मिल रहे है और इन फ़िल्मों को ओवर दि टॉप (ओ.टी.टी.) प्लेटफॉर्म्स के ज़रिये फैलने का भी काफ़ी मौका मिल रहा है।

सामाजिक-राजनीतिक संरचना में जाति प्रश्न निश्चित तौर पर भारतीय व्यवस्था का अहम व अभिन्न अंग है, और हिन्दी, तमिल, तेलगु, कन्नड़, मराठी व अन्य भाषाओं की कला-साहित्य-फ़िल्म-राजनीति जगत में भी इसकी छाप देखने को मिलती रहती है। अगर फ़िल्म जगत की बात करे तो सत्यजीत रे की सद्गति (प्रेमचन्द की कहानी पर आधारित), श्याम बेनेगल की अंकुर सबसे अग्रिम पंक्ति में आती है। वहीं हाल ही के कुछ सालों में आयी मसान, आर्टिकल 15, अजीब दास्तान, गीली पुच्ची और अन्य फ़िल्में भी मौजूद हैं। जहाँ जाति प्रश्न पर बनी आर्टिकल 15 की मुख्य बहस 'सवर्ण सविअर' वर्सेज 'दलित सविअर' (अस्मितावादी राजनीति के दायरे) में ही थी। वही 'अजीब दास्तान' फ़िल्म (कहानी संकलन में) गीली पुच्ची 'सवर्ण महिला' व 'दलित महिला' के बीच मौजूद अन्तरविरोधों को पेश करती है, जो प्रतिच्छेदन सिद्धान्त (intersectionality theory) पर आधारित है। ऐसे में जाति प्रश्न पर सीधे तौर पर या फिर उसको स्पर्श करती अलग-अलग फ़िल्में कई भाषाओं में बनी है। उदहारण के लिए मराठी में फण्ड्री, सैराट, तेलगू में रंगस्थालम, c/o कन्चारापलेम, मलयालम में कुम्ब्लान्नी नाइट्स, ई मा यौ जैसी फ़िल्में बनी है। मगर तमिल सिनेमा इन सबमें सबसे आगे है। जहाँ लगातार जाति प्रश्न पर मुख्यधारा में फ़िल्में बन रही है। जिसका एक कारण दलित पृष्ठभूमि के फ़िल्म निर्माताओं के उद्भव से सम्बन्ध रखता है। जिनमें पा रंजीत (अट्टाकथी, मद्रास, कबाली और काला), गोपी नैनार (अराम), और मारी सेल्वराज (परीयरम पेरुमल) व अन्य मुख्य तौर पर शामिल है। इसके पीछे भी तमिलनाडु का इतिहास काफ़ी मायने रखता है। जहाँ ब्राह्मण विरोधी, द्रविड़ आन्दोलन व सामाजिक राजनीतिक कारणों ने अहम भूमिका निभायी है। 1930 और 1950 के बीच बनी फ़िल्मों में गाँधीवादी दृष्टिकोण से त्याग भूमि और हरिजन पेन लक्ष्मी जैसी फ़िल्में बनायी गयी थी, जिनमें सामाजिक सरोकार था और हमेशा दलितों का प्रतिनिधित्व मौजूद रहता था। वहीं आगे भी जाति विषय पर कई फ़िल्में बनी थी। मगर पा रंजीत के इण्टरव्यू से हमें जाति प्रश्न पर आज जो फ़िल्में बन रही है उसे समझने में मदद मिलती है, उनके अनुसार अभी फ़िल्मों में 'दलित मुखर चरित्र' (Dalit assertive characters) पेश करती है, जबकि पहले दलितों को पीड़ितों (victim) के तौर पर ही पेश किया जाता था। आगे वह कहते है कि हमें ज़मीन पर आन्दोलनों की ज़रूरत है - कुछ ऐसा जो द्रविड़ आन्दोलन ने इतनी शानदार ढंग से किया था। वही निर्देशक गोपी नैनार दलित पृष्ठभूमि से फ़िल्म निर्माताओं के उभरने पर कहते है "कार्ल मार्क्स पहले ही इस मुद्दे की व्याख्या कर चुके हैं: अगर पूँजीवाद के ख़तरों के बारे में बोलने वाली कोई किताब है, तो पूँजीपति ख़ुद इसे बेच देंगे। अगर दलित सिनेमा जीत रहा है, तो इसका मतलब है कि उसके लिए एक बाज़ार है। लेकिन, यह भी इसकी दिक्कत है।" तमिल सिनेमा में दलित पृष्ठभूमि से आने वाले निर्देशकों के समूह में मार्क्स-अम्बेडकर-पेरियार की अन्तरविरोधी विचारधारा के मिश्रित दर्शन मौजूद है। जो उनकी फ़िल्मों में झलक कर आती है। **मगर इन फ़िल्मों में मुख्य तौर पर 'दलित चित्रण' के तहत दलित अस्मिता की निर्मिति व नवनिर्मिति का काम किया जा रहा है।** यह भी उत्तरआधुनिकतावाद के दौर में अस्मिता की बाइनरी ही खड़ी करता है, जो 'सवर्ण सविअर(savior)' और 'दलित मुखर चरित्र' (Dalit assertive characters) के तौर पर उभर कर आती है। इसी कारण तमाम जातीय अस्मिताओं को उभारने और श्रेष्ठ साबित करने की तरफ़ जाता है। गुज्जर, राजपूत, चमार और ऐसी अन्य जातीय अस्मिताओं को अस्मिता के आधार पर एकजुट होने की तरफ़ लेकर जाती है।

मारी सेल्वराज की 2018 में बनी पहली फ़िल्म 'परीयरम पेरुमल' के बाद, यह उनकी दूसरी फ़िल्म 'कर्णन' है। मारी सेल्वराज की पहली फ़िल्म में उनकी अम्बेडकरवादी विचारधारा कलात्मक और कथात्मक तौर पर उभर कर सामने आयी थी। जिसमें नायक अपनी बेबसी और लाचारी के बावजूद, वह समझता है कि व्यवस्था की इन्हीं चौहदियों में उसे रास्ता तलाशना होगा और कोई विकल्प नहीं है। वही कर्णन फ़िल्म की कहानी तमिलनाडु की दक्षिण भाग के एक गाँव की कहानी है। फ़िल्म में यह छोटी सी जगह पुलियांकुलम के नाम से जानी जाती है। कहानी की शुरुआत में दिखाया गया है कि एक बच्ची सड़क के बीचों बीच तड़प कर मर रही है और आस-पास के बस बिना रुके दोनों तरफ़ से गुजर रहे हैं। लड़की मरने के बाद, वह उस गाँव की देवी कट्टु पेची के तौर पर उनके बीच मौजूद रहती है। इसमें

दखाया गया है कि गाँव के मिथकों के अनुसार हर लड़की जो 18 साल की उम्र से पहले मर जाती है, वह देवी बन कर मौजूद रहती है। जिसका बिम्ब फ़िल्म के शुरुआत से अन्त तक मौजूद रहता है। फ़िल्म इसी तरह कई तरह के मिथकों को गूँथ-बुन कर पेश करती है। सेल्वराज ने जाति चेतना से जुड़े प्रतीकों के साथ मिस-एन-सीन (mise en scene) को जोड़ दिया है।

अगर इस फ़िल्म की पृष्ठभूमि पर बात करें तो 1990 के दशक में, तमिलनाडु को जातिगत हिंसा से चिह्नित किया गया था। प्रसिद्ध नेताओं के नाम पर जिलों और बस निगमों के नामकरण की सरकारों की नीति के कारण (जिनमें से कुछ को जाति के प्रतीक के रूप में देखा जाता था) हिंसा भड़की थी। फ़िल्म में वर्णित 'बस राजनीति' (दक्षिणी जिलों में बस स्टॉप के आसपास हुए आन्दोलन) का वास्तविक जीवन में भी आधार है। इस पूरे दशक में पुलिस की ज़्यादती भी देखी गयी थी। इसके साथ ही कहते हैं कि इसी समय राज्य ने स्थानिक अस्मिता का सिनेमा में उदय देखा, जिसने खुले तौर पर जाति की पहचान और चरित्रों का जश्न मनाया, और उनका सम्मान किया। इसी समय मदुरई फॉर्मूला या 3Ms: (Murder, Mayhem and Madurai) हत्या, तबाही और मदुरई का फ़िल्म फार्मूला का भी इस अवधि में उभार हुआ था। कर्णन में चित्रित घटनाओं को 1995 में दक्षिणी तमिल जिले थूथुकुडी के कोडियांकुलम गाँव में हुई कुख्यात हिंसा से प्रेरित बताया जा रहा है। फ़िल्म में, गाँव को पोडियांकुलम नाम दिया गया है। देवेन्द्र कुला वेल्लालर (पूर्व अछूत और पल्लर के रूप में सन्दर्भित) और थेवारों के बीच दुश्मनी का वर्णन करता है, जो कि सत्ताधारी वर्ग के रूप में निकटवर्ती पिछड़ी जाति है।

फ़िल्म कई तरह की बिम्बों का इस्तेमाल करती है। फ़िल्म की कहानी में जानवरों के बिम्बों से (मुर्गियाँ और उनके चूज़े, चील, आवारा कुत्ते, सूअर, कीड़े, गधे के बँधे हुए पैर, हाथी, घोड़ा व अन्य) लगातार जाति के दंश को भी दर्शाती है और साथ-साथ दलित मुखरता को भी चिन्हित करती है। हाथी शक्ति, समृद्धि और शान का प्रतीक है, वहीं गधे का इस्तेमाल किया गया है, जिसके पैर ज़ंजीर से बंधे हुए हैं, यह बन्धन बेबसी और लाचारी का प्रतीक है। फ़िल्म एक भौतिक मुद्दे को ज़रूर उठाती है। जिसमें बस स्टॉप के न होने की वजह से कर्णन के गाँव को हाशिये पर होना दर्शाया गया है। ग्रामीण सार्वजनिक परिवहन वाहन पर चढ़ना चाहते हैं। मगर बस कभी नहीं रूकती है, यह दृश्य दशकों की संस्थागत उपेक्षा के साथ जोड़ा गया है। इसके बाद लम्बे समय से जमा हो रहा गुस्सा एक विस्फोट के तौर पर उभर कर आता है, जो बस तोड़ने के तौर पर दर्शाया गया है। 'दलित' साहित्य में भी कई बार सामाजिक-आर्थिक और व्यवस्थागत कारणों की वजह से लम्बे समय से पल रहे गुस्से को बिना किसी दिशा में ढाले, स्वतःस्फूर्त विस्फोट के तौर पर पेश किया जाता रहा है। यह पूरी घटना (Passive Reactionary Radicalism) निष्क्रिय प्रतिक्रियावादी परिवर्तनवाद के तौर पर उभर कर आती है। दलित आबादी को 'दलित' होने की वजह से अपमान का सामना करना पड़ता है, जिसमें दलित मज़दूर अपने सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के चलते दोहरा दंश झेलता है। मगर फ़िल्म में यह 'दलित' अस्मिता के तौर पर एकजुट होने की तरफ़ भी जाता है। आगे यह पूरी घटना महज़ जाति के प्रति संवेदनशील बनाने की तरफ़ ही नहीं जाती है, बल्कि उस सामाजिक-आर्थिक और व्यवस्था के ख़िलाफ़ फूटे स्वतःस्फूर्त गुस्से का औचित्य साधने की तरफ़ भी जाती है। निश्चित तौर पर दलित आबादी के ऊपर हो रहे जातिगत अपमान व हिंसा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी चाहिए और ज़मीनी जुझारू जनसंघर्ष चलाया जाना चाहिए। मगर यह अस्मितावादी राजनीति के तहत नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे जाति और मजबूत होगी। फ़िल्म में 'बस स्टॉप' का जो भौतिक मुद्दा उठाया गया है। वह फ़िल्म के आधे रास्ते में ही ख़त्म हो जाता है। बस मालिक ने केस करने से मना कर दिया था और उनके गाँव में बस के रुकने की बात भी करता है। मगर आगे की फ़िल्म अस्मिता श्रेष्ठता के चलते होने वाली हिंसा पर आधारित है।

मारी सेल्वराज जाति के नेता या ग्राम प्रधान के विरोधी के बजाय, पुलिस और राज्य को जाति प्रभुत्व के लिए एक सम्बन्धित रूपक के रूप में उपयोग करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जाति का स्वरुप भी बदला है व जाति और पूँजीवाद के बीच सामंजस्य (correspondence) की स्थिति में है। फ़िल्म में विरोधी, कन्निबिरन, एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी, जिसे निकटवर्ती पिछड़ी जाति से सम्बन्धित माना जाता है, गाँव के सरदार या तलाइप्पकई हेडस्काफ़ नहीं हटाने के लिए गाँव के बुजुर्गों की पिटाई करता है। कन्निबिरन फिर ग्रामीणों से कहता है: "निमिरंधु पाथाधुक्कु आदिचंगा। निमिरंधु पढ़ाचु, इनमे कुनिया मुदियाधु।" जिसका अर्थ है उन्होंने हमें सिर्फ़ ख़ुद को मुखर करने के लिए पीटा। जवाब में, नायक कर्णन ने गाँव के बुजुर्गों को बचाने के लिए पुलिस स्टेशन में तोड़फोड़ की।

कर्णन का महाभारत के पौराणिक सन्दर्भ भी है। फ़िल्म सूक्ष्मता में अपने अर्थ धारण करती है। फ़िल्म में, कर्णन, दुर्योधन, द्रौपदी व अन्य का ज़िक्र है। वहीं कर्णन का द्रौपदी के साथ प्रेम सम्बन्ध भी दिखाया गया है, जो कि राजिशा विजयन द्वारा निभाया गया एक चरित्र है। यह महाकाव्य की कहानी के पुनर्लेखन के प्रयास का एक और उदाहरण है, जहाँ कर्णन, एक सूत-पुत्र, कुलीन घर में जन्मी द्रौपदी से शादी करने के योग्य नहीं था। इस प्रकार, फ़िल्म पौराणिक आधारों के साथ आधुनिक कथाओं को भी जोड़ती है और एक वैकल्पिक वास्तविकता का पता लगाने की कोशिश करती है जो ऐतिहासिक रूप से दलितों के प्रतीकात्मक उत्थान ही दर्शाता है। यह भी दलित आन्दोलन में मौजूद वैकल्पिक कहानी (counter narrative) पेश करता है। कर्णन जो अन्ततः प्रतिपक्षी को मारने के बावजूद, अपने कृत्य के प्रति व्यर्थता और त्रासदी की कैथार्सिस (catharsis) को ही प्रदर्शित करता है। इन बिम्बों और कथा के माध्यम से **फ़िल्म जाति अस्मिता की निर्मिति व नव निर्मिति का काम करती है जो अन्ततः अस्मितावादी राजनीति को मजबूत ही करेगी, और जाति अन्त का सवाल और मुश्किल बनेगा।**

•

साहित्य

# प्रेमचन्द, उनका समय और हमारा समय : निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द्व को लेकर कुछ बातें

**कविता कृष्णपल्लवी**

प्रेमचन्द की 300 से अधिक कहानियों में से कम से कम 20 तो ऐसी हैं ही, जिनकी गणना विश्व की श्रेष्ठतम कहानियों में की जा सकती है और जिनकी बदौलत उनका स्थान मोपासां, चेखोव आदि श्रेष्ठतम कथाकारों की पाँत में सुरक्षित हो जाता है। 'कफ़न', 'पूस की रात', 'ईदगाह', 'सवा सेर गेहूँ', 'रामलीला', 'गुल्लीडण्डा', 'बड़े भाईसाहब' जैसी कहानियाँ कभी भुलायी नहीं जा सकतीं। महत्वपूर्ण बात यह है कि एक पिछड़े हुए सामन्ती समाज के ग्रामीण जीवन के जो यथार्थवादी चित्र प्रेमचन्द की कहानियों में मिलते हैं, वे विश्व के श्रेष्ठतम कथाकारों के यहाँ भी दुर्लभ हैं।

अपने सृजनात्मक जीवन के बड़े हिस्से में गाँधीवादी आदर्शोन्मुखता के प्रभाव के बावजूद प्रेमचन्द ने भारतीय गाँवों के भूमि-सम्बन्धों और वर्ग-सम्बन्धों तथा काश्तकारों और रैय्यतों के जीवन और आकांक्षाओं के जो सटीक यथार्थ-चित्र अपनी रचनाओं में उपस्थित किये, वे अतुलनीय हैं। एक सच्चे कलाकार की तरह यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन करते हुए प्रेमचन्द ने अपनी विचारधारात्मक सीमाओं का उसी प्रकार अतिक्रमण किया, जिस प्रकार तोल्स्तोय और बाल्ज़ाक ने किया था। रूसी ग्रामीण समाज के अन्तरविरोधों का सटीक चित्रण करने के नाते ही प्रतिक्रियावादी धार्मिक विचारधारा के बावजूद तोल्स्तोय 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' (लेनिन) थे। इन्हीं अर्थों में प्रेमचन्द भारत की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के अनन्य दर्पण थे और उनका लेखन अर्धसामन्ती-औपनिवेशिक भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का ज्वलन्त साहित्यिक-ऐतिहासिक दस्तावेज़ था।

1907-08 से लेकर 1936 तक प्रेमचन्द की वैचारिक अवस्थिति लगातार विकासमान रही। गाँधी को वे अन्त तक एक महामानव मानते रहे, लेकिन गाँधीवादी राजनीति की सीमाओं और अन्तरविरोधों के प्रति जीवन के अन्तिम दशक में उनकी दृष्टि अधिक से अधिक स्पष्ट होती जा रही थी और उन्हीं के शब्दों में वे 'बोल्शेविज़्म के उसूलों के कायल' होते जा रहे थे। उनके उपन्यासों के कई पात्र कांग्रेस में 'रायबहादुरों-खानबहादुरों' की बढ़ती पैठ और कांग्रेसी राजनीति के अन्तरविरोधों की आलोचना करते हैं और प्रेमचन्द के लेखों और सम्पादकीयों में भी (द्रष्टव्य, 'माधुरी' और 'हंस' के सम्पादकीय और लेख) हमें उनकी वैचारिक दुविधाओं, विकासमान अवस्थितियों की झलक देखने को मिलती है। प्रेमचन्द को जीवन ने यह मौका नहीं दिया कि वे 1937-39 के दौरान प्रान्तों में कांग्रेसी शासन की बानगी देख सकें। 1936 में उनका देहान्त हो गया। यदि चन्द वर्ष वे और जीवित रहते, तो शायद उनकी वैचारिक अवस्थितियों में भारी परिवर्तन हो सकते थे।

प्रेमचन्द को मात्र 56 वर्षों की आयु ही जीने को मिली। काश! उन्हें कम से कम दो दशकों का और समय मिलता और वे पूरे देश को खूनी दलदल में बदल देने वाले दंगों के बाद मिलने वाली अधूरी-विखण्डित-विरूपित आज़ादी के साक्षी हो पाते, तेभागा-

तेलंगाना-पुनप्रा वायलार और नौसेना विद्रोह और देशव्यापी मज़दूर आन्दोलनों का दौर देख पाते। प्रेमचन्द यदि 1956 तक भी जीवित रहते तो नवस्वाधीन देश के नये शासक --- देशी पूँजीपति वर्ग और उसकी नीतियों की परिणतियों के स्वयं साक्षी हो जाते। हम अनुमान ही लगा सकते हैं कि तब भारतीय साहित्य को क्या कुछ युगान्तरकारी हासिल होता।

आज़ादी के बाद के 20-25 वर्षों के दौरान भारत के सत्ताधारी पूँजीपति वर्ग ने विश्व-पूँजीवादी व्यवस्था में साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझीदार की भूमिका निभाते हुए भारत में पूँजीवाद के विकास के रास्ते पर आगे क़दम आगे बढ़ाये। उसने बिस्मार्क, स्तोलिपिन और कमाल अतातुर्क की तरह ऊपर से, क्रमिक

विकास की गति से सामन्ती भूमि-सम्बन्धों को पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों में बदल डाला और एक एकीकृत राष्ट्रीय बाज़ार का निर्माण किया। पूँजीवादी मार्ग पर जारी इसी यात्रा का अन्तिम और निर्णायक चरण नव-उदारवाद के दौर के रूप में 1990 से जारी है।

पिछले क़रीब 40-50 वर्षों के दौरान होरी और उसके भाइयों जैसे अधिकांश निम्न-मध्यम काश्तकार मालिक बनने के बाद, सामन्ती लगान की मार से नहीं बल्कि पूँजी और बाज़ार की मार से अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर या तो शहरों के सर्वहारा-अर्धसर्वहारा बन चुके हैं या फिर खेत मज़दूर बन चुके हैं। जो नकदी फसल पैदा करने लगे थे और अपनी ज़मीन बचाने में सफल रहे थे, वे आज उज़रती मज़दूरों की श्रमशक्ति निचोड़कर मुनाफ़े की खेती कर रहे हैं। पर ऐसा ज़्यादातर पुराने धनी और उच्च-मध्यम काश्तकार ही कर पाये हैं, होरी जैसे काश्तकारों का बड़ा हिस्सा तो तबाह होकर गाँव या शहर के मज़दूरों में शामिल हो चुका है। हिन्दी के कुछ साहित्यकार अक्सर कहते हैं कि भारत के किसान आज भी प्रेमचन्द के होरी की ही स्थिति में जी रहे हैं। ऐसे लोग या तो प्रेमचन्द कालीन गाँव और भूमि-सम्बन्धों को नहीं समझते, या आज के गाँवों के भूमि-सम्बन्धों और सामाजिक सम्बन्धों को नहीं समझते, या फिर दोनों को ही नहीं समझते हैं। 1860 के भूमि सुधारों के बाद रूस में भूमि-सम्बन्धों का जो रूपान्तरण हो रहा था, उसके स्पष्ट चित्र हमें तोल्स्तोय के 'आन्ना करेनिना' और 'पुनरुत्थान' जैसे उपन्यासों में मिलते हैं। भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण के बाद की वर्गीय संरचना और शोषण के पूँजीवादी रूपों की बेजोड़ तस्वीर हमें बाल्ज़ाक के 'किसान' उपन्यास में देखने को मिलती है। हिन्दी लेखकों की विडम्बना यह है कि वे 'गाँव-गाँव' 'किसान-किसान' की रट तो बहुत लगाते हैं लेकिन गाँव की ज़मीनी हक़ीक़त से बहुत दूर हैं। न तो उनके पास पिछले 50 वर्षों के दौरान भारतीय गाँवों के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक परिदृश्य में आये बदलावों की कोई समझ है, न ही वे सामन्ती और पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों के राजनीतिक अर्थशास्त्र की कोई समझदारी रखते हैं। जो लेखक ग्रामीण यथार्थ का अनुभवसंगत प्रेक्षण कर भी लेते हैं उनमें न तोल्स्तोय-बाल्ज़ाक-प्रेमचन्द की प्रतिभा है और न ही भूमि-सम्बन्धों और अधिरचना के अध्ययन की कोई वैचारिक दृष्टि, इसलिए ऐसे अनुभववादी लेखक भी आभासी यथार्थ को भेदकर सारभूत यथार्थ तक नहीं पहुँच पाते और उनका लेखन प्रकृतिवाद और अनुभववाद की चौहद्दी में क़ैद होकर रह जाता है।

यही कारण है कि आज प्रेमचन्द की थोथी दुहाई देने वाले तो थोक भाव से मिल जाते हैं, लेकिन प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का विस्तार हमें कहीं नहीं दिखता, या दिखता भी है तो अत्यन्त क्षीण रूप में। इतिहास निरन्तरता और परिवर्तन के तत्वों के द्वन्द्व से होकर आगे बढ़ता है। इसमें कभी एक प्रधान पहलू होता है तो कभी दूसरा। हम प्रेमचन्द से 85 वर्ष आगे के समय में जी रहे हैं। प्रेमचन्द के समय से आज के समय में निरन्तरता का पहलू नहीं बल्कि परिवर्तन का पहलू प्रधान हो चुका है। प्रेमचन्द की परम्परा को भी वही लेखक विस्तार देंगे जो आज के समय की सामाजिक-आर्थिक संरचना, वर्ग-सम्बन्धों और सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक अधिरचना के सारभूत यथार्थ को प्रेमचन्द जैसी ही सटीकता के साथ पकड़ेंगे और उनका कलात्मक पुनर्सृजन करेंगे।

•

**पेज 30 का शेष**

## वीरेन डंगवाल के जन्मदिवस और स्मृति दिवस के अवसर पर

हर कवि की एक मूल संवेदना होती है जिसके इर्द-गिर्द उसके तमाम अनुभव सक्रिय रहते हैं। इस तरह देखें तो वीरेन के काव्य-व्यक्तित्व की बुनियादी भावना प्रेम है। ऐसा प्रेम किसी भी अमानुषिकता और अन्याय का प्रतिरोध करता है और उन्मुक्ति के संघर्षों की ओर ले जाता है। ऐसे निर्मम समय में जब समाज में लोग ज़्यादातर घृणा कर रहे हों और प्रेम करना भूल रहे हों, मनुष्य के प्रति प्रेम की पुनर्प्रतिष्ठा ही सच्चे कवि का सरोकार हो सकता है। शायद इसीलिए वीरेन की कविता में वर्गशत्रु या अँधेरे की ताकतों से नफ़रत उतनी नहीं है, बल्कि बर्बर ताकतों का तिरस्कार ज़्यादा है।

यह कविता इसीलिए एक अजन्मे बच्चे को माँ की कोख में फुदकते, रंगीन गुब्बारे की तरह फूलते-पचकते, कोई शरारत-भरा करतब सोचते हुए महसूस करती है या दोस्तों की बेटियों को एक बड़े भविष्य का दिलासा देती है। एक पेड़ के पीले-हरे उकसे हुए, चमकदार पत्तों को देखकर वह कहती है : *'पेड़ों के पास यही तरीका है/ यह बताने का कि वे भी दुनिया को प्यार करते हैं। '* शायद इसीलिए वीरेन 'कत्थई गुलाब वाले' शमशेर के बहुत निकट हैं, उन्हें बार-बार याद करते हैं और शमशेर के जीवन का निचोड़ और ख़ुद हमारे समाज का निर्मम हाल बतलाते हैं : *'मैंने प्रेम किया/ इसी से भोगने पड़े/ मुझे इतने प्रतिशोध।'*

यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि 'पूरे संसार को ढोनेवाली/ नगण्यता की विनम्र गर्वीली ताकत' की पहचान और प्रतिष्ठा करती हुई वीरेन डंगवाल की कविता अपने कलेवर में इतने अधिक प्राणियों और वस्तुओं को, उनके विशाल धड़कते हुए अस्तित्व को समेटती चलती रही। हिन्दी कविता में यह एक दुर्लभ घटना है जब कोई कवि अपने से इतना अधिक बाहर रहकर, इतना अधिक बाह्यान्तर से जुड़कर सार्थक सृजन कर पाया है। कविता से बाहर भी वीरेन के दोस्तों और प्रशंसकों की दुनिया इतनी बड़ी थी जितनी शायद किसी दूसरे समकालीन कवि की नहीं रही होगी। उनके निधन पर असद ज़ैदी ने मीर तकी 'मीर' की एक रुबाई का हवाला दिया था जिसमें किसी ऐसे व्यक्ति से मिलने की ख्वाहिश ज़ाहिर की गयी है जो सचमुच मनुष्य हो, जिसे अपने हुनर पर अहंकार न हो, जो अगर कुछ बोले तो एक दुनिया सुनने के लिए एकत्र हो जाये और जब वह ख़ामोश हो तो लगे कि एक दुनिया ख़ामोश हो गयी है। वीरेन की शख़्सियत ऐसी ही थी, जिसके ख़ामोश हो जाने से लोगों और कविताओं की विस्तृत दुनिया में जो उदास ख़ामोशी व्याप्त हुई थी, वह अब तक महसूस होती रहती है।

# महाजनी सभ्यता

**प्रेमचन्द**

मुज़द: ए दिल कि मसीहा नफ़से मी आयद;
कि ज़े अनफ़ास खुशश बूए कसे मी आयद।

(हृदय तू प्रसन्न हो कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की साँसों से किसी की सुगन्ध आ रही है।)

जागीरदारी सभ्यता में बलवान भुजाएँ और मज़बूत कलेजा जीवन की आवश्यकताओं में परिगणित थे, और साम्राज्यवाद में बुद्धि और वाणी के गुण तथा मूक आज्ञापालन उसके आवश्यक साधन थे। पर उन दोनों स्थितियों में दोषों के साथ कुछ गुण भी थे। मनुष्य के अच्छे भाव लुप्त नहीं हो गये थे। जागीरदार अगर दुश्मन के ख़ून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाज़ी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हुक्म को क़ानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजापालन भी करता था, न्यायशील भी होता था।

दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिए करता था या अपनी आन-बान, रोब-दाब क़ायम करने के लिए या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का ख़ून चूसना कदापि न होता था। कारण यह कि राजा और सम्राट जनसाधारण को अपने स्वार्थसाधन और धन-शोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे। किन्तु उनके दुख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुण की कद्र करते थे।

मगर इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज़ महज़ पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूँजीपतियों को ज़्यादा से ज़्यादा नफ़ा हो। इस दृष्टि से मानों आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, ख़ून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाये। अधिक दुख की बात तो यह है कि शासक वर्ग के विचार और सिद्धान्त शासित वर्ग के भीतर भी समा गये हैं, जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शरीर है समाज। वह ख़ुद समाज से बिल्कुल अलग है। अगर कोई सम्बन्ध है, तो यह कि किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठाया जा सकता हो, उठा ले।

धन-लोभ ने मानव भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफ़त, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है, वह देवता स्वरूप है, उसका अन्त:करण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला-सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में है। यह हवा इतनी ज़हरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है।

डॉक्टर और हक़ीम है कि वह बिना लम्बी फ़ीस लिये बात नहीं करता। वकील और बैरिस्टर है कि वह मिनटों को अशर्फ़ियों से तौलता है। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब मानी जा रही है। मौलवी साहब और पण्डित जी भी पैसे वालों के बिना पैसे के ग़ुलाम हैं, अख़बार उन्हीं का राग अलापते हैं। इस पैसे ने आदमी के दिलोदिमाग़ पर इतना कब्ज़ा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखायी देता है। वह दया और स्नेह, सच्चाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य दया-ममताशून्य जड़ यन्त्र बनकर रह गया है।

इस महाजनी सभ्यता ने नये-नये नीति-नियम गढ़ लिये हैं जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है। उनमें से एक यह है कि समय ही धन है। पहले समय जीवन था, और उसका सर्वोत्तम उपयोग विद्या-कला का अर्जन अथवा दीन-दुखी जनों की सहायता था। अब उसका सबसे बड़ा सदुपयोग पैसा कमाना है। डॉक्टर साहब हाथ मरीज़ की नब्ज़ पर रखते हैं और निगाह घड़ी की सुई पर। उनका एक-एक मिनट एक-एक अशर्फ़ी है। रोगी ने अगर केवल एक अशर्फ़ी नज़र की है, तो वह उसे मिनट से ज़्यादा वक्त नहीं दे सकते। रोगी अपनी दुख-गाथा सुनाने के लिए बेचैन हैं; पर डॉक्टर साहब का उधर बिल्कुल ध्यान नहीं। उन्हें उससे ज़रा भी दिलचस्पी नहीं। उनकी निगाह में उस व्यक्ति का अर्थ केवल इतना ही है कि वह उन्हें फ़ीस देता है। वह जल्द-से-जल्द नुस्ख़ा लिखेंगे और दूसरे रोगी को देखने चले जायेंगे। मास्टर साहब पढ़ाने आते हैं, उनका एक घण्टा वक्त बँधा है। वह घड़ी सामने रख लेते हैं, जैसे ही घण्टा पूरा हुआ, वह उठ खड़े हुए। लड़के का सबक अधूरा रह गया तो रह जाय, उनकी बला से, वह घण्टे से अधिक समय कैसे दे सकते हैं; क्योंकि समय रुपया है। इस धन-लोभ ने मनुष्यता और मित्रता का नाम शेष कर डाला है। पति को पत्नी-बच्चों से बात करने की फ़ुर्सत नहीं, मित्र और सम्बन्धी किस गिनती में हैं। जितनी देर वह बातें करेगा, उतनी देर में तो कुछ कमा लेगा। कुछ कमा लेना ही जीवन की सार्थकता है, शेष सब कुछ समय-नाश है। बिना खाये-सोये काम नहीं चलता, बेचारा इससे लाचार है और इतना समय नष्ट करना ही पड़ता है।

आपका कोई मित्र या सम्बन्धी अपने नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, तो समझ लीजिए उसके यहाँ अब आपकी रसाई मुमकिन नहीं। आपको उसके दरे-दौलत पर जाकर कार्ड भेजना होगा। उन महाशय को बहुत से काम होंगे, मुश्किल से आपसे एक-दो बातें करेंगे या साफ़ जवाब दे देंगे कि आज फ़ुर्सत नहीं है। अब वह पैसे के पुजारी हैं, मित्रता और शील-संकोच के नाम पर कब की तिलांजलि दे चुके हैं।

आपका कोई दोस्त वकील है और आप किसी मुक़दमे में फँस गये हैं, तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखिये। अगर

वह मुरौवत को गंगा में डुबो नहीं चुका है, तो आपसे देन-लेन की बात शायद न करेगा, पर आपके मुक़दमें की ओर तनिक भी ध्यान न देगा। इससे तो कहीं अच्छा है कि आप किसी अपरिचित के पास जायें और उसकी पूरी फ़ीस अदा करें। ईश्वर न करे कि आज किसी को किसी चीज़ में कमाल हासिल हो जाय, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जायगी, उसका एक-एक मिनट क़ीमती हो जायेगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यर्थ की गपशप में समय नष्ट किया जाये, पर यह अर्थ अवश्य है कि धन-लिप्सा को इतना बढ़ने न दिया जाये कि वह मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति सबको निकाल बाहर करे।

पर आप उस पैसे के ग़ुलाम को बुरा नहीं कह सकते। सारी दुनिया जिस प्रवाह में बह रही है, वह भी उसी में बह रहा है। मान-प्रतिष्ठा सदा से मानवीय आकांक्षाओं का लक्ष्य रहा है। जब विद्या-कला मान-प्रतिष्ठा का साधन थी, उस समय लोग इन्हीं का अर्जन-अभ्यास करते थे। जब धन उसका एकमात्र उपाय है, तब मनुष्य मजबूर है कि एकनिष्ठ भाव से उसकी उपासना करे। वह कोई साधु-महात्मा, सन्यासी-उदासी नहीं; वह देख रहा है कि उसके पेशे में जो सौभाग्यशाली सफलता की कठिन यात्रा पूरी कर सके हैं, वह उसी राजमार्ग के पथिक थे, जिस पर वह ख़ुद चल रहा है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का। वह उसको इस सिद्धान्त का अनुसरण करते देखता है, फिर वह भी उसी के पद-चिन्हों का अनुसरण करता है, तो उसका क्या दोष? मान-प्रतिष्ठा की लालसा तो दिल से मिटायी नहीं जा सकती। वह देख रहा है कि जिनके पास दौलत नहीं, और इसलिए नहीं कि उन्होंने वक्त को दौलत नहीं समझा, उनको कोई पूछने वाला नहीं। वह अपने पेशे में उस्ताद है फिर भी उसकी कहीं पूछ नहीं।

जिस आदमी में तनिक भी जीवन की आकांक्षा है वह तो इस उपेक्षा की स्थिति को सहन नहीं कर सकता। उसे तो मुरव्वत, दोस्ती और सौजन्य को धता बताकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा, तभी इस देवी का वरदान उसे मिलेगा, और वह कोई इच्छाकृत कार्य नहीं किन्तु सर्वथा बाध्यकारी है। उसके मन की अवस्था अपने आप कुछ इस तरह की हो गयी है कि उसे धनार्जन के सिवा किसी काम से लगाव नहीं रहा। अगर उसे किसी सभा या व्याख्यान में आधा घण्टा बैठना पड़े, तो समझ लो, वह क़ैद की घड़ी काट रहा है। उसकी सारी मानसिक, भौतिक और सांस्कृतिक दिलचस्पियाँ इसी केन्द्र बिन्दु पर आकर एकत्र हो गयी हैं।

और क्यों न हों? वह देख रहा है कि पैसे के सिवा उसका और कोई अपना नहीं। स्नेही मित्र भी अपनी गरज लेकर ही उसके पास आते हैं, स्वजन-सम्बन्धी भी उसके पैसे के ही पुजारी हैं। वह जानता है कि अगर वह निर्बल होता, तो वह जो दोस्तों का जमघट लग रहा है, उसमें से एक के भी दर्शन न होते, इन स्वजन-सम्बन्धियों में से एक भी पास न फटकता। उसे समाज में अपनी एक हैसियत बनानी है, बुढ़ापे के लिए कुछ बचाना है, लड़कों के लिए कुछ कर जाना है जिसमें उन्हें दर-दर ठोकरें न खानी पड़ें। इस निष्ठुर, सहानुभूति शून्य दुनिया का उसे पूरा अनुभव है। अपने लड़कों को वह उन कठिन अवस्थाओं में नहीं पड़ने देना चाहता, जो सारी आशाओं-उमंगों पर पाला गिरा देती है, हिम्मत-हौसले को तोड़कर रख देती है। उसे वह सारी मंज़िलें जो एक साथ जीवन के आवश्यक अंग हैं, ख़ुद तय करनी होगी और जीवन को व्यापार के सिद्धान्त पर चलाये बिना वह इनमें से एक भी मंज़िल पार नहीं कर सकता।

इस सभ्यता का दूसरा सिद्धान्त है 'बिजनेस इज़ बिजनेस' अर्थात व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन-सिद्धान्त में वह लठमार साफ़गोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धान्त की आत्मा है। जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसे का मामला है, वहाँ न दोस्ती का गुज़र है, न मुरव्वत का, न इंसानियत का, 'बिजनेस' में दोस्ती कैसी। जहाँ किसी ने इस सिद्धान्त की आड़ ली और आप लाजवाब हुए। फिर आपकी जबान नहीं खुल सकती। एक सज्जन ज़रूरत से लाचार होकर अपने किसी महाजन मित्र के पास जाते हैं और चाहते हैं कि वह उनकी कुछ मदद करें। वह भी आशा रखते हैं कि शायद सूद के दर में वह कुछ रियायत कर दें; पर जब देखते हैं कि वह महानुभाव मेरे साथ भी वही कारबारी बर्ताव कर रहे हैं, तो कुछ रियायत की प्रार्थना करते हैं, मित्रता और घनिष्ठता के आधार पर आँखों में आँसू भरकर बड़े करुण स्वर में कहते हैं-महाशय, मैं इस समय बड़ा परेशान हूँ, नहीं तो आपको कष्ट न देता, ईश्वर के लिए मेरे हाल पर रहम कीजिए। समझ लीजिए कि एक पुराने दोस्त.... वहीं बात काटकर आज्ञा के स्वर में फ़रमाया जाता है: लेकिन जनाब, आप 'बिजनेस इज़ बिजनेस' इसे भूल जाते हैं। उस दिन कातर प्रार्थी पर मानों बम का गोला गिरा। अब उसके पास कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं। चुपके से उठकर अपनी राह लेता है या फिर अपने व्यवसाय-सिद्धान्त के भक्त मित्र की सारी शर्तें कबूल कर लेता है।

इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नयी रीति-नीतियाँ चलायी हैं, उनमें सबसे अधिक और रक्तपिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धान्त है। मियाँ-बीवी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस। सारे मानवी आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच बस कोई लगाव है, तो बिजनेस का। लानत है इस 'बिजनेस' पर। लड़की अगर दुर्भाग्यवश क्वाँरी रह गयी और अपनी जीविका का कोई उपाय न निकाल सकी, तो अपने बाप के घर में ही लौंडी बन जाना पड़ता है। यों लड़के-लड़कियाँ सभी घरों में काम-काज करते ही हैं, पर उन्हें कोई टहलुआ नहीं समझता; पर इस महाजनी सभ्यता में लड़की एक ख़ास उम्र के बाद लौंडी और अपने भाइयों की मज़दूरनी हो जाती है। पूज्य पिताजी भी अपने पितृ-भक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं और माँ अपने सपूत की टहलुई। स्वजन-सम्बन्धी तो किसी गिनती में नहीं। भाई भी भाई के घर आये तो मेहमान है। अक्सर तो उसे मेहमानी का बिल भी चुकाना पड़ता है। इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद, आप स्वार्थी बन सब कुछ अपने लिये।

पर यहाँ भी हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते। वही मान प्रतिष्ठा, वही भविष्य की चिन्ता, वही अपने बाद बीवी-बच्चों के गुज़र का सवाल, वही नुमाइश और दिखावे की आवश्यकता हर एक की गरदन पर सवार है, और वह हिल तक नहीं सकता। वह इस सभ्यता के नीति-नियमों का पालन न करे तो उसका भविष्य अन्धकारमय है।

अब तक इस दुनिया के लिए सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा और कोई उपाय न था। उसे झख मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने जोम से फूला फिरता था। सारी दुनिया उसके चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बन्दा, वजीर उसके ग़ुलाम, सन्धि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनिया उसकी महत्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाए हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला।

परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम में उदय

हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है, जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग़ से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नयी लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज उस नयी सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता, अपनी अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी वह इन सबकी घातक, गला घोंट देने वाली बतायी जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नयी-नयी हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रँगी जा रही है, कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से जो पैसे वालों के लिए सुलभ है, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सच्चाई है जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्सन्देह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मज़दूरों का ख़ून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं कि अपने नफ़े के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराये। अगर स्वाधीनता का अर्थ है कि यह जनसाधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ़-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यवसाय की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ता और सद्य: सुलभ न्याय की प्राप्ति हो, तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आज़ादी है, वह दुनिया की किसी सभ्यतम कहाने वाली जाति को भी सुलभ नहीं है। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ़्तखोर ज़मात के दम्भमय उपदेशों और अन्धविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है, तो निस्सन्देह वहाँ इस स्वातन्त्र्य का अभाव है; पर धर्म-स्वातन्त्र्य का अर्थ यदि लोक-सेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है, तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है, और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

जहाँ धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है वहाँ ईर्ष्या, ज़ोर, जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्या-वृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में है, वहाँ जलन क्यों हो और जब्र क्यों हो? सतीत्व-विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो? झूठे मुक़दमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों? ये सारी बुराइयाँ तो दौलत की देन हैं, पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया, तो उनका सिर कुचलने के लिए-पुलिस है, अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असम्भव है। पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयाँ अपने-आप मिट जायेंगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता; बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री सुन्दरी नहीं बनती, घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन-समाज से ऊँचा रहन-सहन रखना वहाँ बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकर वहाँ बहका नहीं जा सकता, अधिक मद्यपान वहाँ दोष समझा जाता है, क्योंकि शराबखोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अध्यवसाय और श्रमशीलता का अन्त हो जाता है।

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जनसाधारण को अपनी महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फ़ायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-मोटी रकमें उड़ाये और मूछों पर ताव देता फिरे। वहाँ ऊँचे से ऊँचे अधिकारी की तनख़्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगनचुम्बी प्रासादों में नहीं रहता, तीन-चार कमरों में ही उसे गुजर करना पड़ता है। उसकी श्रीमती जी रानी साहबा या बेगम बनी हुई स्कूलों में इनाम बाँटती नहीं फिरतीं; बल्कि अक्सर मेहनत-मज़दूरी या किसी अख़बार के दफ्तर में काम करती हैं। सरकारी पद पाकर वह अपने को लाट साहब नहीं बल्कि जनता का सेवक समझता है। महाजनी सभ्यता का प्रेमी इस समाज-व्यवस्था को क्यों पसन्द करने लगा जिसमें उसे दूसरों पर हुकूमत जताने के लिए सोने-चाँदी के ढेर लगाने की सुविधाएँ नहीं? पूँजीपति और ज़मींदार तो इस सभ्यता की कल्पना से ही काँप उठते हैं। उनकी जूड़ी का कारण हम समझ सकते हैं। पर जब वह लोग भी उसकी खिल्ली उड़ाने और उस पर फब्तियाँ कसने लगते हैं जो अनजान में महाजनी सभ्यता का उल्लू सीधा कर रहे हैं, तो हमें उनकी दास-मनोवृत्ति पर हँसी आती है। जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौन्दर्यबोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो। ईश्वर ने तुम्हें विद्या और कला की सम्पत्ति दी है, तो उस का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे जन-समाज की सेवा में लगाओ, यह नहीं कि उससे जन-समाज पर हुकूमत चलाओ, उसका ख़ून चूसो और उसे उल्लू बनाओ।

धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुकरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मज़हब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है-यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गयी। बौद्ध-धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरुदक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है; पर मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज -व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकारी होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोकेंगे; पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

विशेष सामग्री

# भारत छोड़ो आन्दोलन की 79वीं बरसी : एक विश्लेषण

**वारुणी**

भारत छोड़ो आन्दोलन का पूरे स्वतन्त्रता संग्राम में एक अलग महत्व है। यह एक ऐतिहासिक जन आन्दोलन के रूप में उभरा था। आज़ादी के अन्य सभी आन्दोलनों की तुलना में इस आन्दोलन में आम मेहनतकश जनता की सबसे ज़्यादा भागीदारी थी। क़रीब 40 प्रतिशत मज़दूरों और किसानों ने इस आन्दोलन में हिस्सेदारी की और यह आन्दोलन सिर्फ़ शहरों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि गाँव-गाँव में फ़ैल गया। भारत छोड़ो आन्दोलन की व्यापकता और जुझारूपन तथा अंग्रेज़ी हुकूमत पर इसके प्रभाव को हम तत्कालीन वायसराय लिनलिथगो के उस वक्तव्य से जान सकते हैं,जो उन्होंने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल को भेजे पत्र में लिखा था- "यह 1857 के बाद का सबसे गम्भीर विद्रोह है, जिसकी गम्भीरता और विस्तार को हम अब तक सैन्य सुरक्षा की दृष्टि से छुपाये हुए हैं।" इस आन्दोलन में औपनिवेशिक ग़ुलामी से मुक्ति के लिए छटपटाती भारतीय जनता ने अपने साहस व बलिदान की एक मिसाल क़ायम की, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

ब्रिटिश सत्ता के ख़िलाफ़ जनता का असन्तोष द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत तक इतना बढ़ चुका था कि अगर महात्मा गाँधी 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का आह्वान न करते तो सामाजिक विस्फ़ोट की जो स्थिति पैदा होने की सम्भावना थी, उसमें कांग्रेस द्वारा बुर्जुआ वर्ग के हितों के प्रतिकूल जनान्दोलन विनियमन की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता। इस पूरी अवस्थिति को समग्रता में समझने के लिए हमें इतिहास में थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा कि किस प्रकार दो विश्व युद्धों के दौरान भारतीय पूँजीपति वर्ग अपनी शक्ति लगातार बढ़ाता गया और राजनीतिक आत्मविश्वास को हासिल करता गया। डोमिनियन स्टेटस से लेकर पूर्ण स्वराज, असहयोग आन्दोलन और नमक सत्याग्रह से भारत छोड़ो आन्दोलन तक की यात्रा पूँजीपति वर्ग की शक्ति व पूँजी संचय के बढ़ते जाने का परिणाम है। भारतीय बुर्जुआ वर्ग को अपने वर्ग हितों के मद्देनज़र कई मौकों पर समझौता करने की ज़रूरत हुई और अपनी शक्ति अनुसार कई मौक़ों पर दबाव बनाने की। गाँधी के नेतृत्व में बुर्जुआ वर्ग की पार्टी कांग्रेस ने जब ज़रूरत हुई तब ब्रिटिश उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ जनता को उद्वेलित भी किया और जब आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथों से फिसल जाने की सम्भावना हुई तो उसे वापस लेने या आन्दोलन को नियन्त्रित करने का भी काम किया। भारत छोड़ो आन्दोलन भी एक ऐसे समय शुरू किया गया जब रूस द्वारा हिटलर की सेना को पीछे धकेलने की शुरुआत हुई। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के कुशलतम राजनीतिक प्रतिनिधि और रणनीति-निर्माता गाँधी समझ चुके थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर जनान्दोलन का दबाव बनाकर अधिकतम सम्भव हासिल करने का अनुकूलतम समय आ चुका है।

युद्ध की शुरुआत से पहले ब्रिटेन स्पष्ट रूप से फ़ासिस्टों की पीठ थपथपा रहा था और जर्मनी को सोवियत संघ के ख़िलाफ़ उकसा रहा था। एक ऐसे वक़्त में ब्रिटिश विरोधी पक्ष और फ़ासीवाद विरोधी पक्ष लेने में कोई अन्तरविरोध मौजूद नहीं था। कांग्रेस ने भी फ़ासीवादी आक्रमण की भर्त्सना की लेकिन उसके बावजूद भी कांग्रेस 1938 तक मन्त्रिमण्डलों में शामिल थी। कांग्रेस के इस शासनकाल में जिस प्रकार किसानों-मज़दूरों का दमन किया गया और आम जन का उसका अलगाव साफ़ दिख रहा था, यदि उस समय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा कांग्रेस का पर्दाफ़ाश किया गया होता तो सम्भवतः आज तस्वीर दूसरी होती। लेकिन पहले मिले अन्य मौकों की तरह भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ये मौका भी चूक गयी। आगे सितम्बर 1939 में जब युद्ध की शुरुआत हुई तब मजबूरन कांग्रेसी नेताओं को मन्त्रिमण्डलों से त्यागपत्र देना पड़ा। वरना जिस प्रकार वायसराय ने प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों या किसी भी नेता से बिना कोई विमर्श किये भारत को जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन के युद्ध में घसीट लिया था, ऐसे में युद्ध विरोधी कांग्रेसी प्रदर्शनकारियों व आम जन के ख़िलाफ़ कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता! शुरू में युद्ध की ऐसी परिस्थिति थी कि ब्रिटेन को कांग्रेस के सहयोग की ज़रूरत नहीं पड़ती और इसलिए ही लिनलिथगो ने कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित न्यूनतम शर्तों पर पूर्ण सहयोग के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। कांग्रेस ने युद्ध के पश्चात संविधान सभा बुलाने का वादा और केन्द्र में एक उत्तरदायी सरकार जैसी किसी चीज़ के गठन का प्रस्ताव रखा था। लेकिन लिनलिथगो डोमिनियन स्टेटस सम्बन्धी पुरानी पेशकश तक ही सीमित रहा। ज्ञात हो युद्ध की घोषणा के दिन ही नागरिक आज़ादी को सीमित करने वाला 'भारत रक्षा अध्यादेश' लागू कर दिया गया था। इस दौरान कांग्रेस समझौते का प्रयास करती रही। नेहरु का कहना यह था कि बिना शर्त ब्रिटेन का युद्ध में समर्थन करने के लिए जनता तैयार नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि कांग्रेस अन्त तक बातचीत जारी रखे हुए थी ताकि किसी तरह समझौता हो जाये। युद्ध जैसे आगे बढ़ा अगस्त 1940 में ब्रिटेन को यह ज़रूरत महसूस हुई कि भारत का इसमें समर्थन चाहिए होगा और ठीक इसलिए ही लिनलिथगो कुछ रियायतें देने के लिए मान गये थे। लेकिन मई 1940 में ही बनी ब्रिटेन की मिली जुली राष्ट्रीय सरकार के प्रमुख चर्चिल ने उनके प्रस्तावों में अड़ंगा डाल दिया। नतीजतन लिनलिथगो का 'अगस्त प्रस्ताव' भी कुछ ख़ास नयी चीज़ नहीं लेकर आया, इसमें सिर्फ़ भविष्य में डोमिनियन स्टेटस और युद्ध पश्चात संविधान बनाने के लिए एक निकाय के गठन की बात की गयी थी लेकिन इसके लिए भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की अनुमति आवश्यक थी। गाँधी बार-बार इसी प्रयास में रहे कि किसी तरह समझौता हो जाये। कांग्रेस के भीतर का "वामपन्थी" धड़ा और आम जन के दवाब को देखते हुए गाँधी ने 'अगस्त प्रस्ताव' से निराश होकर आन्दोलन करने की अनुमति तो दे दी लेकिन यह आन्दोलन जान बूझकर सीमित और प्रभावहीन रखा गया। मार्च 1940 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने की बात की गयी थी, लेकिन इस आन्दोलन में सिर्फ़ युद्ध विरोधी बातें कहने के अधिकार को एकमात्र मुद्दा बनाया गया। जून 1941 में आन्दोलन शिखर

पर पहुँचा, जिसमें क़रीब 20,000 लोग जेल जा चुके थे। लेकिन उसके बाद आन्दोलन बिखरने लगा। यह कमज़ोर और प्रभावहीन आन्दोलन जानबूझ कर बनाये रखा गया क्योंकि गाँधी को बख़ूबी पता था कि यदि आन्दोलन को और आम जन के गुस्से को खुली छूट दे दिया जाये तो हो सकता है कि आन्दोलन कांग्रेस के नेतृत्व से बाहर निकल जाये। और तब तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भी राष्ट्रीय आन्दोलन को मुख्य अन्तरविरोध मान रही थी जो कि नाज़ी-सोवियत सन्धि के पश्चात कोमिण्टर्न की नीति थी। कम्युनिस्ट एक ताकत के तौर पर आज़ादी के आन्दोलन में सक्रिय थे और कम्युनिस्ट पार्टी देश में तीसरी सबसे बड़ी पार्टी थी। जनवरी 1941 में बिड़ला के साथ बातचीत में गाँधी ने कहा था कि वे आन्दोलन से ज़्यादा परेशानी नहीं उत्पन्न करना चाहते और साथ ही उन्होंने युवाओं की मानसिकता पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा था कि ".....दुर्भाग्य से हमारे युवा कम्युनिज़्म की ओर आकर्षित होते हैं" (ठाकुरदास पेपर्स, फा.न. 177)। इससे यह साफ़ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि किस प्रकार गाँधी बुर्जुआ वर्ग के एक परोकार के रूप में हर दाँव-पेंच सही रूप में इस्तेमाल कर रहे थे। जब तक कम्युनिस्ट पार्टी की नीति नहीं बदली तब तक गाँधी राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र करने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं रूस जैसी परिस्थिति यहाँ ना पैदा हो जाये। दूसरी तरफ़ श्रमिक असन्तोष को महँगाई भत्ते में बढ़ोतरी करके और वेज गुड्स की कीमतें कम कर के नियन्त्रण में रखा गया था। युद्ध जब तक भारत के नज़दीक नहीं आया था यानी जब तक सम्पत्ति के नष्ट होने का ख़तरा नहीं था तब तक व्यापारियों और दुकानदारों के लिए लाभ कमा लेने का यह अच्छा मौका था। कांग्रेस पर इन बड़े व्यापारियों का दवाब भी था कि युद्ध की इस स्थिति में अंग्रेज़ों से लकड़ी, कोयला व अन्य वस्तुओं की आपूर्ति में जितने ठेके हासिल किये जा सकते हैं, वह उन्हें हासिल करे और लाभ कमाने का यह मौका नहीं छोड़े। युद्धकालीन परिस्थिति में आयात बन्द होने से भारतीय उद्योग को भी विकास करने का मौका मिला। यह परिस्थिति युद्ध के शुरुआती काल में बनी रही और इसी के अनुसार पूँजीपति वर्ग की पार्टी कांग्रेस ने अपनी नीतियाँ तय की।

जब तक दक्षिण पूर्वी एशिया के संकट का दवाब नहीं बढ़ा तब तक ब्रिटिश सरकार शान्त बैठी रही। युद्ध के नये चरण में परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गयीं। विश्वयुद्ध की दो घटनाओं ने भारत की स्थिति को अचानक से बदल दिया। बदली परिस्थिति के अनुसार अंग्रेज़ सरकार की नीतियाँ भी बदली और कांग्रेस व कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों में भी परिवर्तन आया। पहली घटना थी 1941 के अन्तिम महीनों में सोवियत रूस पर हिटलर की सेना का आक्रमण और दूसरी घटना दक्षिण पूर्वी एशिया में जापान का आक्रमण जिसने चार महीनों में ही अंग्रेज़ों को मलाया, बर्मा और सिंगापुर से खदेड़ दिया, जिससे अंग्रेज़ों को अपने साम्राज्य के नष्ट होने का ख़तरा महसूस होने लगा था। अन्ततः 1942 के मार्च में जब अण्डमान द्वीप समूह पर कब्ज़ा कर लिया गया, तब अंग्रेज़ सरकार को यह अहसास हुआ कि भारतीय जनता को अपने पक्ष में करने के लिए कोई सद्भावनापूर्ण क़दम उठाना पड़ेगा और मार्च-अप्रैल में क्रिप्स मिशन को भेजा गया। भारतीय नेताओं से समझौते की बात करने क्रिप्स भारत आये लेकिन वार्ता में लिनलिथगो को यह लग रहा था कि क्रिप्स कांग्रेस को कुछ अधिक ही शक्तियाँ प्रदान कर रहे हैं और अन्तिम क्षण में लिनलिथगो चर्चिल के साथ मिलकर समझौते में बाधा डाल देते हैं। वे क्रिप्स की निन्दा करते हैं कि उनको राष्ट्रीय सरकार बनाने का हवाला देने की क्या ज़रूरत थी व उनको सारी बातचीत को पुनः मन्त्रिमण्डल योजना पर लाने को कहा जाता है। इस पूरी बातचीत में नेहरु मौजूद रहते हैं और वे पूरी कोशिश करते हैं अन्त तक कि किसी तरह से समझौता हो जाये। परन्तु राष्ट्रीय सरकार बनाने व संविधान सभा बुलाने के अपने पुराने वायदे को नहीं निभाते हुए क्रिप्स मिशन असफल होता है। क्रिप्स मिशन के असफल होने के बाद कांग्रेस की वर्किंग समिति के अधिवेशन में गाँधी ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आन्दोलन छेड़ने और पूरी आज़ादी की माँग को उठाने के लिए ज़ोर दिया। "भारत छोड़ो" प्रस्ताव को सहमति मिल गयी। कांग्रेस का पूरा दक्षिणपन्थी धड़ा इसके समर्थन में था। केवल कम्युनिस्ट इसके विरोध में थे।

अगस्त 1942 में पूरे देश की आम जनता की मनःस्थिति को गाँधी ने कम्युनिस्टों की अपेक्षा बेहतर समझा था। एक तरफ़ मलाया, बर्मा व सिंगापुर से पीछे हटने के दौरान अंग्रेज़ों ने यातायात के सभी साधनों को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ मौजूद भारतीय प्रवासी मज़दूरों को उनके हाल पर छोड़ दिया। बाद में इन प्रवासियों को कई कठिनाईयों से जूझते हुए वापस लौटना पड़ा और इनके बीच अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ एक रोष उत्पन्न हो रहा था। दक्षिण पूर्वी एशिया में भेजे जाने वाले अधिकतर प्रवासी मज़दूर संयुक्त प्रान्त और उत्तरी बिहार से आते थे, इसलिए ही बिहार में 'अगस्त का विद्रोह' सबसे उग्र व विस्तृत था। विदेशों से और ख़ास कर बर्मा के मोर्चे से घायल लौटने वाले भारतीय सिपाहियों को देखकर आम जन में उस युद्ध के प्रति रोष बढ़ता गया। नस्ल भेद आधारित दुर्व्यवहार बढ़ते जा रहे थे, इसके अलावा खाद्यान मूल्यों में भी वृद्धि हो रही थी। विशेष रूप से चावल और नमक की कमी हो गयी थी। खाद्यानों की कीमतों के बढ़ने के कारण और देश में मित्र देशों की सेनाओं के विशाल जमाव को देखते हुए आम जन में यह भाव बैठ गया था कि देश के खाद्यान भण्डार को सेना चट कर जा रही है। दूसरी तरफ़ बड़े व्यापारी वर्ग को भी युद्ध के नज़दीक पहुँचने के कारण सम्पत्ति नष्ट होने और व्यापार के तबाह होने का ख़तरा महसूस हो रहा था। अब भारतीय व्यापारी वर्ग अपनी सम्पत्ति को सम्भावित जापानी आक्रमण से बचाने के लिए तत्पर था और इसलिए एक ऐसे आन्दोलन को समर्थन देने को तैयार था जो अंग्रेज़ों को निकाल बाहर करता। हिटलर का सोवियत रूस पर आक्रमण के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने जनवरी 1942 में ही फ़ासीवाद विरोधी "जनयुद्ध" को समर्थन देने का फैसला कर लिया था। हालाँकि वे भी राष्ट्रीय सरकार के गठन की बात कर रहे थे लेकिन यह युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन करने की कोई शर्त के बतौर नहीं रखे थे। मतलब साफ़ था कि वे बिना शर्त ब्रिटेन का समर्थन करते और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को तेज़ करने के पक्ष में उस दौरान नहीं होते। गाँधी ने इस पूरी परिस्थिति का फ़ायदा उठाया और 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में "भारत छोड़ो आन्दोलन" का प्रस्ताव रखा जिसमें यह कहा गया कि अहिंसक रूप से जितना सम्भव हो उतने बड़े स्तर पर जन संघर्ष का आह्वान किया जायेगा। गाँधी ने यहीं अपने वक्तव्य में 'करो या मरो' का नारा दिया और यह भी कहा कि यदि आम हड़ताल करना आवश्यक होगा तो उससे भी पीछे नहीं हटेंगे। गाँधी पहली बार अपने राजनीतिक जीवन में राजनीतिक हड़ताल का समर्थन करने के लिए तैयार हुए थे और यह भी इसलिए क्योंकि

कम्युनिस्टों का उससे अलग रहना निश्चित था।

## कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक भूल और उसके कारण

भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन विचारधारा की दृष्टि से हमेशा ही कमज़ोर रहा और यहाँ का नेतृत्व कभी अपने देश की परिस्थितियों की स्वतन्त्र रूप से जाँच पड़ताल व अध्ययन कर अपनी नीतियाँ नहीं तय की बल्कि हमेशा अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से मिली आम लाइन को बिना सोचे समझे अपने देश पर लागू करते गये। इसी का परिणाम था कि आज़ादी के आन्दोलन में कई बार ऐसे मौके आये जब उसका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी अपने हाथों में ले सकती थी परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सबसे पहली ग़लती थी यह सोचना कि राष्ट्रीय आन्दोलन को सिर्फ़ बुर्जुआ वर्ग की पार्टी नेतृत्व दे सकती है और मज़दूर वर्ग को बस उसका समर्थन करना चाहिए। पार्टी के महासचिव पी. सी. जोशी ने पार्टी के मुखपत्र में अप्रैल 1939 में कहा था कि 'आज का सबसे बड़ा संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष है' जिसका प्रमुख हथियार कांग्रेस है और इसलिए कांग्रेस किसान एकता को बनाये रखना जरुरी है। पी.सी.जोशी के इस दक्षिणपन्थी भटकाव ने पार्टी को भारी क्षति पहुँचाई। यही कारण था कि कम्युनिस्ट पार्टी ने 1937 में गठित कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के शासन के दौरान हो रहे दमन और अत्याचार को आम जन के बीच मुद्दा नहीं बनाया। एक ऐसा वक़्त आया था जब कांग्रेस की कारगुजारियों के कारण आम जनता की कांग्रेस से दूरी बढ़ती जा रही थी लेकिन इस मौके का भी फ़ायदा कम्युनिस्ट पार्टी ने नहीं उठाया।

इसके बाद 1940 के लिनलिथगो के अगस्त प्रस्ताव में भी जब संविधान सभा के गठन और राष्ट्रीय सरकार बनाने को लेकर कोई बात नहीं की गयी, तब भी कांग्रेस ने आम कार्यकर्ता व कांग्रेस के अन्दर के 'वामपन्थी' धड़े के दबाव के कारण असहयोग आन्दोलन की शुरुआत तो की लेकिन गाँधी ने जानबूझ कर इस आन्दोलन को सीमित रखा और आन्दोलन का मुख्य मुद्दा सिर्फ़ युद्ध के ख़िलाफ़ बोलने की स्वतन्त्रता पर ही केन्द्रित रखा। बिना भारतीय नेताओं से बातचीत किये भारत को युद्ध में झोंक देने से आम जन में भी रोष था और तब तक सोवियत-जर्मनी सन्धि क़ायम थी, कम्युनिस्ट पार्टी के सामने एक बार फिर यह अवसर था कि वह कांग्रेस के बुर्जुआ नेतृत्व की इस कमज़ोरी का लाभ उठाती और राजनीतिक आज़ादी और संविधान सभा की माँग को केन्द्रीय नारा बनाकर देशव्यापी संघर्ष छेड़ देती। आम जन के सामने कांग्रेस के विदेशी पूँजी से समझौते करने की नीति का भी पर्दाफाश किया जा सकता था लेकिन इस मौके को भी कम्युनिस्ट पार्टी चूक गयी। इस वक़्त तक कम्युनिस्ट पार्टी का युद्ध विरोधी दृष्टिकोण एक़दम साफ़ था और वे ब्रिटेन के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के भी पक्ष में थे। यह नीति कोमिण्टर्न की नीति के अनुसार तय की गयी थी।

पार्टी नेतृत्व की विचारधारात्मक-राजनीतिक व सांगठनिक कमज़ोरी ही वह कारण था कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर कम्युनिस्ट धारा अपना राजनीतिक वर्चस्व नहीं क़ायम कर सकी। इन ऐतिहासिक भूलों के लिए मुख्य रूप से कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी ही कारण थी। भारत की ठोस परिस्थितियों का मूल्यांकन व अध्ययन कर पार्टी की नीति तय करने की बजाय पार्टी नेतृत्व हमेशा ही अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहती रही। दूसरा मुख्य कारण था पार्टी का लम्बे समय तक एक ग़ैर बोल्शेविक ढाँचे के रूप में काम करना व कार्यकर्ताओं को कोई बोल्शेविक ट्रेनिंग नहीं मिलना। इसी का नतीजा था कि जब युद्ध के दूसरे चरण में 22 जून 1941 को सोवियत रूस पर हिटलर की सेना का आक्रमण हुआ तब 6 महीने की बहस के बाद जनवरी 1942 में कम्युनिस्ट पार्टी ने फ़ासीवाद विरोधी "जनयुद्ध" के समर्थन का आह्वान किया। कम्युनिस्ट पार्टी के अनुसार मित्र राष्ट्रों में ब्रिटेन उस समाजवादी देश का मित्र था और पार्टी फ़ासीवाद विरोधी मोर्चे को कमज़ोर नहीं करना चाहती थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने विश्व स्तर पर प्रधान अन्तरविरोध को राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रधान अन्तरविरोध मान लिया था। विश्व स्तर पर मित्र राष्ट्रों का सोवियत संघ के साथ मोर्चा बनाना (धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध) ब्रिटेन व सभी पश्चिम साम्राज्यवादियों की मजबूरी थी। आज यह स्थापित हो चुका है कि ब्रिटेन व उसके साम्राज्यवादी मित्रों की यह नीति थी कि समाजवाद के गढ़ को ढहाकर, फ़ासिस्ट शक्तियों को पराजित किया जाये। युद्धकालीन प्रधानमन्त्री चर्चिल का कहना था कि ''अगर हिटलर जीत की तरफ़ बढ़ेगा तो हम सोवियत संघ का साथ देंगे और यदि सोवियत संघ जीत की ओर बढ़ेगा तो हम हिटलर का साथ देंगे।'' हिटलर की 200 डिवीजनों का मुकाबला अकेले रूस कर रहा था लेकिन बार-बार कहने के बावजूद तीसरा मोर्चा बहुत देर से खोला गया, जब हिटलर की हार सुनिश्चित हो चुकी थी। यदि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को सोवियत संघ की मदद भी करनी थी तो वह इसी रूप में की जा सकती थी कि पार्टी राष्ट्रीय स्वाधीनता व संविधान सभा के लिए राष्ट्रव्यापी संघर्ष का दबाव बनाती और राष्ट्रीय आन्दोलन के कांग्रेसी नेतृत्व के सामने प्रभावी चुनौती प्रस्तुत करने के साथ ही ब्रिटेन पर पश्चिम में भी युद्ध का मोर्चा खोलने का दबाव बनाती।

पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में लड़ी गयी लड़ाईयों और कुर्बानियों से सभी परिचित हैं। 1942 के वक़्त भी कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रीय सरकार के गठन व पूर्ण स्वतन्त्रता की बात उठायी थी लेकिन ये माँगें युद्ध का समर्थन करने की अनिवार्य शर्तें नहीं मानी गयी थी! नेतृत्व की ग़लत विचारधारात्मक समझ के कारण भारत छोड़ो आन्दोलन में कम्युनिस्ट पार्टी ने भागीदारी नहीं की और यह एक ऐतिहासिक भूल थी। इन ग़लतियों ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को गम्भीर धक्का पहुँचाया और ज़मीनी स्तर पर मज़दूरों-किसानों के जुझारू संघर्षों और उनमें अपनी गहरी साख के बावजूद राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथों से छीनने के मामले में कम्युनिस्ट पार्टी पीछे छूट गयी तथा पार्श्वभूमि में धकेल दी गयी।

## "देशभक्त" संघ परिवार का 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में ग़द्दारी भरा इतिहास

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा आज पूरे देश में जिस प्रकार "देशभक्ति" का राग अलाप रहे हैं और सबको देशभक्ति का प्रमाणपत्र बाँटता फिर रहा है, उसकी देशभक्ति की सच्चाई यह है कि 1925 में अपनी स्थापना से लेकर 1947 तक संघ ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ चूँ तक नहीं की! उलटे संघ के संस्थापक हेडगेवार, दूसरे सर संघचालक गोलवलकर और "वीर" सावरकर ने ख़ुद को तो आज़ादी के आन्दोलन से दूर रखा परन्तु अन्य कार्यकर्ताओं व आम लोगों की स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी करने की चाहत को हतोत्साहित किया! वैसे तो संघ ने पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन से

अलग रहने की नीति तय की थी। अन्त के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय भी गोलवलकर (संघ संचालक) ने यही रुख क़ायम रखा: "1942 में भी अनेकों के मन में तीव्र आन्दोलन था। उस समय भी संघ का नित्य कार्य चलता रहा। प्रत्यक्ष रूप से संघ ने कुछ न करने का संकल्प किया। परन्तु संघ के स्वयंसेवकों के मन में उथल-पुथल चल ही रही थी। संघ अकर्मण्य लोगों की संस्था है, इनकी बातों में कुछ अर्थ नहीं, ऐसा केवल बाहर के लोगों ने ही नहीं, कई अपने स्वयंसेवकों ने भी कहा। वे बड़े रुष्ट भी हुए।" ('श्री गुरूजी समग्र दर्शन', खण्ड-4, पृष्ठ 40, भारतीय विचार साधना, नागपुर, 1981)

जब देश की जनता का देशप्रेम, आज़ादी के संघर्ष में अपना सबकुछ बलिदान करने की तीव्र इच्छा थी। लोग ग़ुलामी की ज़ंजीरों को तोड़कर आज़ाद होने के लिए लड़ रहे थे तो 'संघ ने कुछ न करने का संकल्प किया'। असल में अंग्रेज़ भक्ति ही उनकी देशभक्ति थी। 9 मार्च 1960 को इन्दौर, मध्यप्रदेश में आरएसएस के कार्यकर्ताओं की एक बैठक को सम्बोधित करते हुए गोलवलकर ने कहा था : "नित्यकर्म में सदैव संलग्न रहने के विचार की आवश्यकता का और भी एक कारण है। समय-समय पर देश में उत्पन्न परिस्थितियों के कारण मन में बहुत उथल-पुथल होती ही रहती है। सन् 1942 में ऐसी उथल-पुथल हुई थी। उसके पहले सन् 1930-31 में भी आन्दोलन हुआ था। उस समय कई लोग डॉक्टर जी (हेडगेवार) के पास गये थे। इस 'शिष्टमण्डल' ने डॉक्टर जी से अनुरोध किया कि इस आन्दोलन से स्वातन्त्र्य मिल जायेगा और संघ को पीछे नहीं रहना चाहिए। उस समय एक सज्जन ने जब डॉक्टर जी से कहा कि वे जेल जाने के लिए तैयार हैं, तो डॉक्टर जी ने कहा – "ज़रूर जाओ। लेकिन पीछे आपके परिवार को कौन चलायेगा?'' उस सज्जन ने बताया- 'दो साल तक केवल परिवार चलाने के लिए ही नहीं तो आवश्यकता अनुसार जुर्माना भरने की भी पर्याप्त व्यवस्था उन्होंने कर रखी है।' तो डॉक्टर जी ने कहा, 'आपने पूरी व्यवस्था कर रखी है तो अब दो साल के लिए संघ का ही कार्य करने के लिए निकलो।' घर जाने के बाद वह सज्जन न जेल गये न संघ का कार्य करने के लिए बाहर निकले।'' (श्री गुरूजी समग्र दर्शन', खण्ड-4, पृष्ठ 39-40, भारतीय विचार साधना, नागपुर, 1981)

आरएसएस के संस्थापक हेडगेवार, गोलवलकर या 'हिन्दुत्व' के प्रचारक सावरकर या इस गिरोह का कोई भी नेता अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई में ख़ुद तो भाग नहीं लिया परन्तु आम भारतीय को भी जो इनके सम्पर्क में थे, अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश की कि वह अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ स्वतन्त्रता आन्दोलन में शरीक न हो। गोलवलकर अंग्रेज़ शासकों को विजेता मानते थे और उनकी दृष्टि में विजेताओं का विरोध न करके उनके साथ अपनापन रखना चाहिए। एक जगह गोलवलकर ने यह तक कहा था कि अंग्रेज़ हमारे दुश्मन नहीं हैं, बल्कि मुस्लिम और इसाई हमारे दुश्मन हैं और हमें उनके ख़िलाफ़ संगठित होना होगा! आज हमें अपने इतिहास से इसलिए भी परिचित होने की ज़रूरत है ताकि हम देश की आज़ादी के आन्दोलन के ग़द्दारों को पहचान सकें। इसके साथ ही हमें यह भी जानना चाहिए कि साम्प्रदायिक धारा की दूसरी प्रतिनिधि 'मुस्लिम लीग' भी अन्त तक 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में तटस्थता की नीति अपनाये रही और भारत छोड़ो आन्दोलन में शिरकत नहीं किया। आज जिस प्रकार संघ परिवार अपनी ग़द्दारी को छुपाने के लिए इतिहास का मिथ्याकरण कर रही है, ऐसे में हमारे लिए यह और ज़रूरी बन जाता है कि हम अपने देश के इतिहास की सटीक व सम्पूर्ण जानकारी रखें।

## 'अगस्त क्रान्ति' का विस्तार व स्वरूप

8 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आन्दोलन का आह्वान किया गया। गाँधी ने 'करो या मरो' के नारे के साथ पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग उठाई। 9 अगस्त को सारे बड़े कांग्रेसी नेता गिरफ़्तार हो गये और उसके बाद एक व्यापक व स्वतःस्फूर्त जन आन्दोलन की शुरुआत हुई। आन्दोलन का नेतृत्व नये युवा एवं संघर्षशील लोगों के हाथ में आने के कारण नीचे के दवाब को उभरने का पूरा मौका मिला। आन्दोलन के विस्तार में जाने से पहले यह जान लेना जरुरी है कि गाँधी के "भारत छोड़ो" प्रस्ताव में आन्दोलन की गतिविधियों के सम्बन्ध में पूरी कार्यदिशा को अस्पष्ट रखा गया ताकि आगे अंग्रेज़ों से बातचीत या समझौते का रास्ता बन्द ना हो। कार्यक्रम की रूपरेखा मोटे तौर पर नमक सत्याग्रह, न्यायालय, स्कूल, और सरकारी नौकरी का बहिष्कार करने, विदेशी सामानों का बहिष्कार करने और अन्त में लगान की नाअदायगी जैसे गाँधीवादी कार्यक्रम शामिल थे। मज़दूर हड़ताल भी आयोजित करने की बात की गयी थी (क्योंकि अब कम्युनिस्ट पार्टी का इस आन्दोलन में शिरकत नहीं करना निश्चित था)। अहिंसात्मक होकर आन्दोलनों को विस्तार करने की बात की गयी थी। लेकिन आन्दोलन अपने पहले ही चरण में काफ़ी हिंसक हो गया था। शुरुआत में मुख्यतः शहरों में हड़तालें होने लगी और सेना व पुलिस के साथ झड़पें होने लगी। 9 से 14 अगस्त तक बम्बई में हड़तालें हुई, फ़िर कोलकाता और फिर दिल्ली में मिल मज़दूरों की हड़तालें और हिंसक झडपें शुरू हो गयी। पटना में 11 अगस्त को सचिवालय के सामने होने वाले विख्यात संघर्ष के बाद दो दिनों तक शहर में कोई क़ानून-व्यवस्था नहीं रही। अहमदाबाद के कपड़ा मिलों में तीन महीने तक हड़ताल चलती रही। शुरुआत में इस आन्दोलन में मज़दूरों, विद्यार्थियों व शहरी मध्य वर्ग का हिस्सा सक्रिय रहा। अगस्त के मध्य से विद्यार्थियों के ज़रिये आन्दोलन गाँव में फैलने लगा। जुझारू विद्यार्थी किसान विद्रोह का नेतृत्व करने लगे। बड़े स्तर पर संचार साधनों को नष्ट किया गया व पुलिस चौकी को नष्ट किया गया। उत्तरी और पश्चिमी बिहार और पूर्वी संयुक्त प्रान्त, बंगाल में मिदनापुर, महाराष्ट्र, कर्नाटक और उड़ीसा के कुछ हिस्से आन्दोलन के इस दूसरे चरण में सक्रिय रहे। इनमें से कई जगहों पर 'राष्ट्रीय सरकारों' की स्थापना की गयी लेकिन यह ज़्यादा दिन नहीं चल सकी। आन्दोलन का प्रचण्ड रूप धारण करने का कारण था भारी संख्या में किसानों का विद्रोह और यह मूलतः छोटे किसानों का विद्रोह था। ऊपर उल्लिखित चार राज्यों में भयानक जन-आन्दोलन हुआ। तीव्रता और विस्तार दोनों में ही बिहार आगे था। आन्दोलन को अंग्रेज़ी सरकार ने कुचल कर रख दिया। भारी दमन का सामना करते हुए भी आन्दोलन छिट-पुट रूप में अक्टूबर तक जारी रहा। आन्दोलन कितना शक्तिशाली व गम्भीर था यह इस बात से पता लगाया जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने किस क़दर आन्दोलन का दमन किया। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ 1943 के अन्त तक 91,836 लोगों को गिरफ़्तार किया गया। आन्दोलनकारियों द्वारा 208 पुलिस चौकी, 332 रेलवे स्टेशन और 945 डाक घर नष्ट कर दिये गये थे। क़रीब 1000 लोग सेना व पुलिस की गोलियों से शहीद हुए। बिहार, बंगाल व उड़ीसा में तो आन्दोलन का दमन करने के लिए वायुयानों का प्रयोग किया गया था। **(शेष पेज 12 पर)**

## गतिविधियाँ

### प्रेमचन्द की जयन्ती पर कार्यक्रम

31 जुलाई प्रेमचन्द के जन्मदिवस पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की ओर से पटना, इलाहाबाद, गोरखपुर, चित्रकूट, मथुरा, अम्बेडकरनगर, ग्रेटर नोएडा, सिरसा, झील, बाणी, और डोहाना खेड़ा गाँव हरियाणा, शाहाबाद डेरी, अलीपुर, करावल नगर, वज़ीरपुर सहित दिल्ली के विभिन्न इलाकों देश के कई शहरों में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये गये।

दिशा छात्र संगठन की पहल पर पटना विश्वविद्यालय के पटना कॉलेज के पत्रकारिता विभाग में प्रेमचन्द की रचना 'ठाकुर का कुआँ' पर बनी फ़िल्म दिखायी गयी। इलाहाबाद में एनआरएमयू प्रयाग शाखा के ऑफ़िस में विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। नौजवान भारत सभा, दिल्ली की टीम ने चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मदिवस 23 जुलाई से लेकर 31 जुलाई तक विभिन्न इलाकों में विविध कार्यक्रम आयोजित किया।

पटना के ब्रजकिशोर स्मारक भवन बिहार विद्यापीठ सदाकत आश्रम के ग्राउण्ड में नौजवान भारत सभा द्वारा निबन्ध मेला का आयोजन किया गया। इस निबन्ध मेले में चौथी से लेकर बारहवीं तक के छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। मेले के उपरान्त नौजवान भारत सभा के आशीष ने छात्र–छात्राओं को प्रेमचन्द के साहित्यिक कृतित्व से अवगत कराया। इस दौरान आशीष ने कहा कि औपनिवेशिक भारत में सामाजिक कुरीतियों, ज़मींदारी व औपनिवेशिक ग़ुलामी के कारण आम जनता के हालात को प्रेमचन्द ने शायद सबसे अच्छे ढंग से चित्रित किया। प्रेमचन्द के लेखन की भी वैचारिक यात्रा रही है, आरम्भ में प्रेमचन्द गाँधी के विचारों से काफ़ी प्रभावित थे परन्तु बाद में भी वे गाँधी को महामानव तो मानते रहे लेकिन उनकी राजनीति से इनका मोहभंग होने लगा। जीवन के अन्तिम दौर में प्रेमचन्द लिखते हैं मैं बोल्शेविक उसूलों का कायल होता जा रहा हूँ। प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्तिम दिनों में मानव केन्द्रित समतामूलक समाज की बात अपने निबन्धों में करने लगे थे। आज प्रेमचन्द के लेखन की प्रासंगिकता पहले से कही ज़्यादा है। निबन्ध मेला के साथ सांस्कृतिक कार्यक्रम का भी आयोजन किया गया। सांस्कृतिक कार्यक्रम में नौभास की वारुणी ने 'सृष्टि बीज का नाश ना हो' का गायन किया तथा बच्चों ने भी कविता पाठ किया। इसके उपरान्त निबन्ध मेले में भाग लेने वाले छात्र छात्राओं को प्रशस्ति पत्र दिया गया। सांस्कृतिक कार्यक्रम में मौजूद इलाक़े के लोगों को सत्तासीन साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों के ख़तरों से आगाह करते हुए नौभास की मुस्कान ने प्रेमचन्द की मशहूर रचना 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' की चन्द पंक्तियों का पाठ किया–"साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलने में शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भाँति जो सिंह का खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है।"

### दिल्ली विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ऑफ़लाइन कक्षाओं के संचालन और पुस्तकालय खोलने के लिए प्रदर्शन

दिशा छात्र संगठन- दिल्ली विश्वविद्यालय इकाई और अन्य प्रगतिशील छात्र संगठनों की ओर से दिल्ली विश्वविद्यालय में केन्द्रीय पुस्तकालय खोलने, ऑफलाइन कक्षाओं के संचालन करने, लैब खोलने आदि माँगों को लेकर आर्ट्स फैकल्टी गेट पर प्रदर्शन किया गया। छात्रों ने अपनी माँगों का ज्ञापन विश्वविद्यालय प्रशासन को सौंपा।

दिशा छात्र संगठन-इलाहाबाद विश्वविद्यालय इकाई की ओर से केन्द्रीय पुस्तकालय खोलने, ऑफलाइन कक्षाओं को बहाल करने और विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा छात्रों से मनमानी फ़ीस वसूलने के ख़िलाफ़ छात्रसंघ भवन पर प्रदर्शन किया। इसके पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छात्रों के बीच तीन दिवसीय हस्ताक्षर अभियान चलाकर कुलपति को ज्ञापन दिया गया था। दिशा छात्र संगठन की यह भी माँग है कि प्रशासन छात्रों से मनमानी वसूली गयी फ़ीस वापस करे या फिर नये सत्र की फ़ीस माफ करे।

ग़ौरतलब है कि पिछले सत्र में इलाहाबाद विश्वविद्यालय कोविड महामारी के कारण बन्द रहा इसलिए ऑनलाइन कक्षाएं चलाई गई और इस दौरान कोई भी सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं हुआ, कोई खेलकूद की गतिविधि नहीं हुई, पुस्तकालय पूरी तरह से बन्द रहा और यही नहीं, जब छात्रों को भी प्रमोट किया गया, कोई परीक्षा नहीं हुआ, पिछले तीन सालों से छात्रसंघ चुनाव बन्द है, फिर भी विश्वविद्यालय छात्रों से पूरी फ़ीस की वसूली की और इस बार भी करने के फिराक में है। ऐसे में दिशा छात्र संगठन ने

प्रदर्शन कर फ़ीस में पारदर्शिता बहाल करने की माँग की और इस सत्र की फ़ीस माफ करने की माँग उठाया।

देश के कई केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में पुस्तकालयों को खोल दिया गया है। यहाँ तक कि मॉल, सिनेमाघर, रेस्तरां भी खुल रहे हैं। जेएनयू व बीएचयू के छात्र-छात्राएँ पुस्तकालय में जाकर पढ़ाई कर रहे हैं लेकिन दिल्ली विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अभी तक पुस्तकालय को बन्द रखा गया है। जिससे छात्र-छात्राएँ प्राइवेट पुस्तकालयों में पैसे देकर पढ़ने को मजबूर हैं। लाइब्रेरी खोलने की माँग हो, कैम्पस खोलने की माँग या फिर फ़ीस माफ़ी की माँग, डीयू और एयू प्रशासन छात्रों की इन माँगों पर आँखें मूंदे बैठा है। कोरोना महामारी के दौर को सरकार और विश्वविद्यालय प्रशासन दोनों ने ही छात्र-विरोधी नीतियाँ बनाने के लिए पर इस्तेमाल किया।

## फ़ादर स्टेन स्वामी की न्यायिक हत्या के ख़िलाफ़ तथा राजनीतिक कैदियों की रिहाई की माँग को लेकर जगह-जगह प्रदर्शन

दिशा छात्र संगठन, नौजवान भारत सभा और स्त्री मुक्ति लीग द्वारा दिल्ली में जन्तर मन्तर पर, लखनऊ में जी पी ओ पर और गोरखपुर में गोरखपुर विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर फ़ासिस्ट सरकार द्वारा फ़ादर स्टेन स्वामी की न्यायिक हत्या के ख़िलाफ़ प्रदर्शन किया गया। इलाहाबाद में बालसन चौराहे पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा समेत विभिन्न जनसंगठनों ने विरोध प्रदर्शन और सभा का आयोजन किया। प्रदर्शन में फ़ादर स्टेन स्वामी की न्यायिक हिरासत में हुई हत्या की जाँच कराने और भीमा कोरेगाँव मामले में जेल भेजे गये सभी मानवाधिकार कार्यकर्ताओं की अविलम्ब रिहाई की माँग की गयी।

लखनऊ में स्त्री मुक्ति लीग और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने सभा में साहिर लुधियानवी की नज़्म "ये किसका लहू है कौन मरा, ऐ रहबरे मुल्क़ो क़ौम बता" भी गाया।

84 वर्षीय फ़ादर स्टेन स्वामी का जीवन झारखण्ड में आदिवासियों के अधिकारों और फर्ज़ी मुक़दमें लगाकर जेल में डाल दिये गये जाने के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए समर्पित था। उन्हें पिछले साल अक्टूबर में दमनकारी क़ानून यूएपीए के तहत एनआईए द्वारा गिरफ़्तार कर महाराष्ट्र की तलोजा जेल भेजा गया। उन्हें भीमा कोरेगाँव के झूठे मुक़दमे में उन्हें फँसाया गया था। इस मामले में गौतम नौलखा, सुधा भारद्वाज, आनन्द तेलतुम्बडे समेत विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ता अभी भी जेल की सलाखों के पीछे हैं। फ़ादर स्टेन पार्किन्सन के मरीज़ थे और स्वयं खाने-पीने व अपने कामों को करने में भी असमर्थ थे। वे पानी का गिलास भी नहीं पकड़ पाते थे जिस वजह से उन्हें सिपर और स्ट्रॉ के लिए कोर्ट में याचिका दायर की गई थी जिसने इस मामूली सी बात के ऑर्डर के लिए 20 दिन लगा दिये। कोविड के ख़तरे के बीच उन्हें भीड़भाड़ वाली जेल में रखा गया जहाँ उनकी स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गयी। हाईकोर्ट के आदेश के बाद उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया गया जहाँ वे कोविड पाज़िटिव पाये गये। उनके गिरते स्वास्थ्य के बाद भी उनकी ज़मानत याचिका का एनआईए ने विरोध किया। उन्होंने कोर्ट से अपील की थी कि वे अपने जीवन के अन्तिम दिन अपने लोगों के बीच राँची में बिताना चाहते हैं किन्तु उनकी ज़मानत याचिका नामंजूर हो गयी। उनके गिरते स्वास्थ्य को लेकर देश भर के मानवाधिकार संगठनों द्वारा उनको ज़मानत देने की आवाज उठाई गई किन्तु क्रूर व्यवस्था ने सब कुछ अनसुना कर दिया। अन्ततः 5 जुलाई को फ़ादर स्टेन की मृत्यु हो गयी। दरअसल यह सामान्य मृत्यु नहीं है बल्कि इस न्यायिक हत्या के लिए फ़ासिस्ट निज़ाम, असंवेदनशील जाँच एजेंसी व लापरवाह न्यायपालिका जिम्मेदार हैं।

## चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मदिवस (31 जुलाई) के अवसर पर

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा - इलाहाबाद इकाई की ओर से 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' के कमाण्डर-इन-चीफ़ अमर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मदिवस के अवसर पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रसंघ भवन स्थित शहीद लालपद्मधर की प्रतिमा से आज़ाद पार्क स्थित आज़ाद की प्रतिमा तक जुलूस निकाला गया और चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क में सभा की गयी। नौजवान भारत सभा एवं दिशा छात्र संगठन की बिहार इकाई द्वारा पटना के कुर्जी इलाके में साइकिल यात्रा निकाली गयी। दिल्ली के विभिन्न हिस्सों में 23 जुलाई से 31 मार्च तक 9 दिवसीय 'शहीद स्मृति अभियान' चलाया गया। इसके अलावा उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, अम्बेडकरनगर, चित्रकूट, उरई, गाजीपुर आदि तथा हरियाणा और महाराष्ट्र के विभिन्न इलाकों में चन्द्रशेखर आज़ाद की याद में विविध कार्यक्रम आयोजित किये गये।

चन्द्रशेखर आज़ाद की ब्रिटिश उपनिवेशवादियों से बहादुरी भरी लड़ाई और उनकी शहादत से देश के सभी लोग परिचित हैं। लेकिन जिस समाज को बनाने के लिए आज़ाद और उनका संगठन लड़ रहा था उससे देश की बहुत बड़ी आबादी परिचित नहीं हैं। आज़ादी के बाद सत्ता में आये भूरे साहबों ने क्रान्तिकारियों के विचारों को जनता के बीच जाने से रोकने के लिए एड़ी चोटी का ज़ोर लगाते रहे हैं। 23 जुलाई की सुबह जब दिशा और नौभास के कार्यकर्ता जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रसंघ भवन पर पहुँचे तो वहाँ पहले से ही भारी संख्या में पुलिस फोर्स इकट्ठा हो गयी थी। यह पूरी स्थिति क्रान्तिकारियों के विचारों से सत्ताधारियों के ख़ौफ़ को दिखाती है। साम्प्रदायिक फ़ासिस्ट लुटेरों एवं तमाम बुर्जुआ पार्टियों के नेताओं ने चन्द्रशेखर आज़ाद की विरासत को विस्मृति के अंधेरे में धकेल देने के लिए एक नयी तरक़ीब अपनायी है। उन्होंने चन्द्रशेखर आज़ाद को एक बहादुर नायक के तौर पर पेश कर उनकी मूर्तियाँ लगवा दी और उन्हें हमारे लिए महज एक पूज्य वीर क्रान्तिकारी बना दिया। उनकी तस्वीरों के सामने हर 23 जुलाई और 27 फरवरी को अगरबत्तियां जला दी जाती है! उन्हें श्रद्धांजलि दे दी जाती है! हार पहना दिये जाते हैं! लेकिन इन सवालों पर पर्दा डाल देती हैं कि उनके विचार क्या थे? वह कैसे समाज के लिए लड़ रहे थे? क्या वह महज अंग्रेज़ी ग़ुलामी के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे? आज़ादी से उनका आशय क्या था? इन विस्मृतियों के विरुद्ध आज़ाद के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन की टीमें देश के विभिन्न इलाकों में विविध कार्यक्रम आयोजित कर रही हैं।

•

# राहुल फाउण्डेशन की चार महत्वपूर्ण पुस्तकें

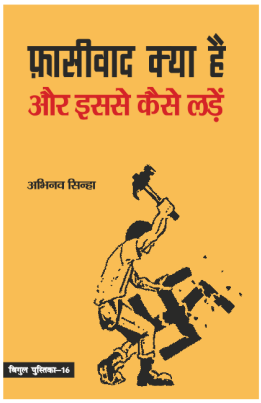


प्रस्तुत पुस्तक फ़ासीवाद के उभार के इतिहास और उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

पृष्ठ : 240, मूल्य : 120 रुपये

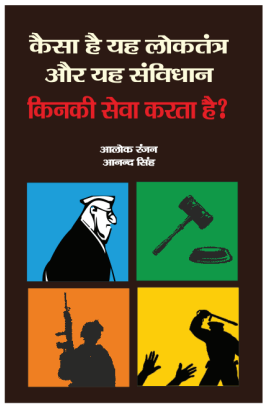


औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति-सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के खतरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।

पृष्ठ : 200, मूल्य : 150 रुपये

आनन-फ़ानन में लाये गये इन कृषि क़ानूनों से किसे लाभ होगा, किसे नुक़सान होगा? मौजूदा किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र क्या है? वे कौन से मुद्दे हैं जिन्हें लेकर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को इन क़ानूनों का विरोध करना चाहिए? क्या मज़दूर वर्ग इन क़ानूनों के मज़दूर व ग़रीब-विरोधी प्रावधानों का विरोध कृषि क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग, यानी धनी किसानों व कुलकों के मंच से कर सकता है? क्या इनके साथ मिलकर कोई फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है? यह पुस्तिका मार्क्सवादी नज़रिए से इन सवालों का विश्लेषण करती है।

पृष्ठ : 60, मूल्य : 40 रुपये

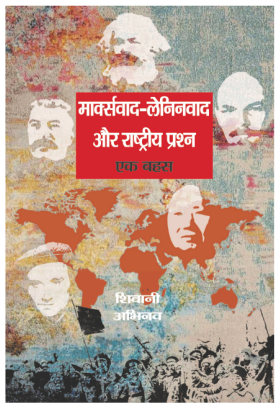


मौजूदा संकलन में शामिल दो लेख 2019-20 में चली एक अहम बहस का हिस्सा हैं। यह बहस हिन्दी पत्रिका 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' और पंजाबी पत्रिकाओं 'प्रतिबद्ध' और 'ललकार' के बीच चली थी। मौजूदा पुस्तक में दो लेख हैं। पहला लेख प्रमुख सैद्धान्तिक लेख है जो 'प्रतिबद्ध' और 'ललकार' की राष्ट्रीय प्रश्न पर अवस्थिति के गैर-मार्क्सवादी और ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी, बुण्डवादी व त्रात्स्कीपन्थी तथा राष्ट्रीय शावनवादी व भाषाई अस्मितावादी अवस्थिति की विस्तृत आलोचना पेश करता है। दूसरे लेख में सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में 'प्रतिबद्ध' व 'ललकार' द्वारा पेश अज्ञानतापूर्ण विचारों का खण्डन पेश किया गया है।

पृष्ठः 220, मूल्यः 150

**पुस्तकें मँगाने और सम्पूर्ण पुस्तक सूची देखने के लिए हमारे मुख्य वितरक से सम्पर्क**

## जनचेतना

**मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

**फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546 (व्हॉट्सऐप)**

**ईमेल :** janchetna.books@gmail.com **वेबसाइट :** www.janchetnabooks.org

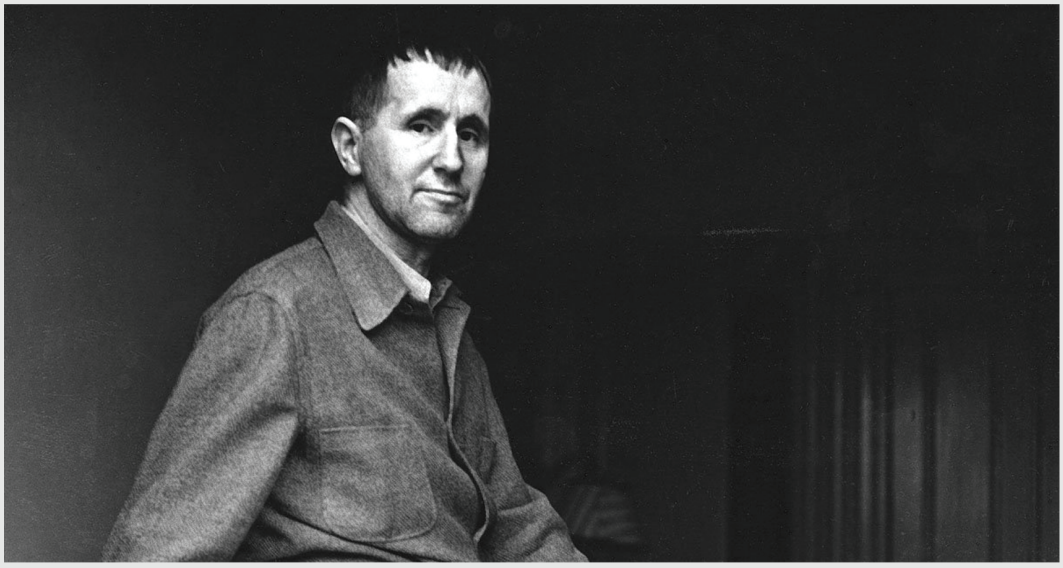

जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बछड़े को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बछड़े को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें ख़ून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ थो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के ख़िलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपने आप में बर्बरता के ख़िलाफ़ हैं। वे बर्बरता के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं, और वे उन देशों में ऐसा करते हैं जहाँ ठीक ऐसे ही सम्पत्ति सम्बन्ध हावी हैं, लेकिन जहाँ कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है।

बर्तोल्त ब्रेख़्त (10 फ़रवरी 1898 - 14 अगस्त 1956)